

भक्तानाम-स्तोत्र

ॐ उपाध्याय अमर मुनि ॐ



सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

सन्मति-साहित्य रत्नमाला का सातवाँ रत्न

भक्तामर-स्तोत्र

उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२

पुस्तक :

भक्तामर

रचयिता :

आचार्य मानतुङ्ग

अनुवाद :

उपाध्याय अमरमुनि

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञानपीठ

छोहामंडी, आगरा-२८२००२ (उ.प्र.)

शाखा-कार्यालय

वीरायतन

राजगृह-८०३११६ (बिहार)

ग्यारहवाँ परिवर्द्धित संस्करण

जनवरी १९८७

मूल्य : २.००

मुद्रक :

वीरायतन मुद्रणालय, राजगृह

दो बोल

यह भक्तामर-स्तोत्र है। अनुयोगद्वार-सूत्र के आदान-पद नाम के उल्लेखानुसार, इस स्तोत्र का भक्तामर नाम प्रारम्भिक पद के ऊपर से चल पड़ा है। परन्तु स्तोत्र में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है। स्तोत्र का छन्द वसन्ततिलका है, जो संस्कृत-साहित्य में बहुत मधुर एवं श्रेष्ठ छन्द माना जाता है।

भक्तामर-स्तोत्र के निर्माता आचार्य श्री मानतुंग हैं। आप बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् और जिन शासन-प्रभावक आचार्य हो गए हैं। भक्ति-रस तो आप में कूट-कूट कर भरा हुआ था। भक्तामर-स्तोत्र का एक-एक अक्षर आपकी भगवद्-भक्ति का यशोगान कर रहा है। अवन्ती नगरी के राजा वृद्धभोज ने चमत्कार देखने की इच्छा से आपको हथकड़ी-बेड़ी डालकर जेलखाने में कैद कर दिया था और बाहर मजबूत ताले लगाकर पहरा बैठा दिया था। तीन दिन आचार्यश्री ध्यानस्थ रहे। चौथे दिन भगवान् आदिनाथ की स्तुति के रूप में भक्तामर-स्तोत्र का निर्माण किया। ज्यों ही 'आपादकण्ठ'

(ख)

वाला छयालीसवाँ श्लोक बना, त्यों ही हथकड़ी-बेड़ी और ताले आदि के बन्धन टूट कर अलग हो गए। आचार्यश्रीजी बाहर निकल आए। राजा पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह जैन बन गया।

वस्तुतः भक्तामर-स्तोत्र बहुत चमत्कारपूर्ण प्रभाव रखता है। अपने-अपने समय में अनेक आचार्यों ने इस पर टीकाएँ लिखीं और इसका प्रभाव दूर - दूर तक फैलता चला गया। आज भी हजारों सज्जन ऐसे हैं, जो भक्तामर-स्तोत्र का पाठ किए वगैर मुँह में अन्न का एक दाना तक नहीं डालते।

भक्ति-मार्ग हृदय का मार्ग है। इस पर चलने के लिए मनुष्य को श्रद्धा का पवित्र बल अपने में जागृत करना पड़ता है। जो भक्त सच्चे हृदय से भगवान् का गुणगान करता है, उसके श्री चरणों में अखिल संसार का भौतिक और आध्यात्मिक वैभव अपने आप आ उपस्थित होता है। श्रद्धा चाहिए, केवल। यदि श्रद्धा है, तो फिर भक्त को स्वप्न में भी किसी प्रकार की निराशा न रहेगी।

बाबू निरंजनसिंह देहली के बड़े ही श्रद्धालु और भावुक युवक हैं। भक्तामर-स्तोत्र के हिन्दी अनुवाद के

(ग)

लिए आप मुझ से बहुत दिनों से आग्रह कर रहे थे । इधर मुझे अवकाश ही नहीं मिल पाता था । दूसरे यहाँ भक्तामर - स्तोत्र की कोई संस्कृत टीका भी नहीं मिल रही थी । अनुवाद हो तो कैसे हो ? परन्तु उनका आग्रह बढ़ता गया और बिना किसी विशिष्ट साधन के मुझे यह अनुवाद करना ही पड़ा । क्या है, कैसा है— यह पाठक अपने - आप अनुमान करें । अपना काम प्रभु के चरणों में यह भेंट चढ़ाने का था, सो चढ़ा दी । भक्त का आग्रह पूरा हुआ और हमने अपनी श्रद्धा का मंगल-मार्ग प्रशस्त किया ।

आशा है, श्रद्धालु भक्त - जन इस स्तोत्र से लाभ उठाएँगे और आचार्यश्री के ही शब्दों में आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार की लक्ष्मी के स्वामी बनेँगे ।

दिल्ली

कार्तिक शुक्ला ज्ञानपंचमी

— उपाध्याय अमरमुनि

वीराब्द २४७४

ग्यारहवाँ संस्करण

यह भक्तामर का ग्यारहवाँ संस्करण है। प्रस्तुत सम्पादन एवं अनुवाद की लोक - प्रियता के लिए यही एक बात पर्याप्त है।

अनेकान्त, ज्ञानोदय, जैन - प्रकाश, जिनवाणी, श्रमण, वीर आदि अनेक पत्रों तथा उक्च कोटि के विद्वानों ने मुक्त-कंठ से प्रस्तुत अनुवाद की प्रशंसा की है।

स्थान-स्थान से मांग-पर-मांग आने के कारण ही अब यह ग्यारहवाँ परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। पाठ करने वाले साधकों की मांग को ध्यान में रखकर इसमें अन्वयार्थ और जोड़ दिया है। आशा है, प्रेमी पाठक इस वार भी अपनी गुण-ग्राहकता से हमें उत्साहित करेंगे।

ओमप्रकाश जैन

मंत्री, सन्मतिज्ञानपीठ

आगरा

भक्तामर-स्तोत्र



चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
चउव्वीसत्थएणं दंसण विसोहिं जणयइ ।

— उत्तराध्ययन सूत्र, २६. १०

—भन्ते ! चतुर्विंशति - स्तव से जीव को क्या प्राप्त होता है ? चतुर्विंशति - स्तव से—चीबीस तीर्थकरों की स्तुति से, जीव दर्शन = विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

न पूजयार्थस्त्वयि ! वीतरागे ,
न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे ।
तथापि ते पुण्य - गुण - स्मृतिर्नः ,
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

— आचार्य समन्तभद्र

वीतराग ! निर्वैर ! न तुम को—
तनिक प्रयोजन निन्दा - स्तुति से ।
फिर भी मन हो विमल पाप से ,
तेरे पुण्य - गुणों की स्मृति से ॥

— उपाध्याय अमरमुनि

भक्तामर - स्तोत्र

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-

मुद्द्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-

वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय - तत्त्वबोधा-

दुद्भूतबुद्धि - पटुभिः सुरलोक - नाथैः ।

स्तोत्रैर्जगत्त्रितय - चित्तहरैरुदारैः,

स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

(युगम्)

अन्वयार्थ—(भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणिप्रभाणाम्)

भक्त देवों के झुके हुए मुकुट - सम्बन्धी रत्नों की कान्ति

के (उद्द्योतकम्) प्रकाशक (दलित-पाप-तमोवितानम्)

पापरूपी अंधकार समूह को नष्ट करनेवाले और (युगादौ)

युग के प्रारम्भ में (भवजले) संसाररूपी जल में (पतताम्)

षिरते हुए (जनानाम्) प्राणियों के (आलम्बनम्)

आलम्बन—सहारे (जिनपादयुगं) जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों को (सम्यक्) अच्छी तरह से (प्रणम्य) प्रणाम करके (यः) जो (सकल-वाङ्मय-तत्त्वबोधात्) समस्त द्वादशांग के ज्ञान से (उद्भूत-बुद्धि-पटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धि के द्वारा चतुर (सुरलोक-नाथैः) इन्द्रो के द्वारा (जगत्त्रितयचित्तहरैः) तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त को हरने वाले और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रों से (संस्तुतः) स्तुत किये गए थे, जिनकी स्तुति की गई थी (तम्) उन (प्रथमम्) पहले (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र ऋषभदेव की (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चय से (स्तोष्ये) स्तुति करूँगा । ॥१-२॥

भावार्थ—भक्तिमान् देवताओं के नमस्कार करते समय झुके हुए मुकुटों में लगी मणियों की प्रभा को भी उद्भासित (चमकदार) करने वाले, पापरूपी अन्धकार के समूह को नाश करने वाले, संसार-समुद्र में डूबते हुए मनुष्यों को युग की आदि में आलंबन (आधार, सहारा) बनने वाले भगवान् जिनेश्वरदेव के दोनों चरणों में भली - भाँति प्रणाम करके—

समस्त शास्त्रों के तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली निपुण बुद्धि द्वारा अतीव चतुर बने हुए स्वर्गाधिपति

इन्द्रों ने, तीन लोक के चित्त को हरण करने वाले अनेक प्रकार के गम्भीर एवं विशाल स्तोत्रों से जिनकी स्तुति की है, आश्चर्य है, उन प्रथम जिनेन्द्रदेव श्री ऋषभदेव भगवान् की मैं भी स्तुति करूँगा ।

टिप्पणी

ये दोनों श्लोक युग्म हैं । संस्कृत-साहित्य में युग्म उन श्लोकों को कहते हैं, जिनका अन्वय एक ही, अर्थपूर्ति की सूचक अन्तिम क्रिया भी एक हो । आप देख सकते हैं—प्रथम श्लोक में अन्तिम शब्द है, 'चरणों में भली-भाँति प्रणाम करके'—इसके आगे अर्थपूर्ति की सूचक 'स्तुति करूँगा', क्रिया की अपेक्षा है । और, वह क्रिया दूसरे श्लोक में है । अतः दोनों श्लोकों का अलग-अलग अर्थ न होकर सम्मिलित अर्थ होता है

भगवान् के चरणों में से इतना उज्ज्वल प्रकाश निकलता है, जो देवताओं के मुकुटों में लगी अमूल्य मणियों की प्रभा की भी प्रभा देता है । भगवान् के चरण कितने प्रभावान् हैं । संसार की भौतिक विभूति कितनी ही विराट् क्यों न हो, आखिर वह आध्यात्मिक विभूति के द्वारा ही मंगलमय प्रकाश पाती है ।

मानव सभ्यता के प्रारंभिक युग में, जबकि जैन-शास्त्रानुसार तीसरे आरक के अंत में कर्मभूमि का युग आरम्भ हो रहा था,

भगवान् ऋषभदेव ने ही मानव-जाति को तत्त्व-ज्ञान का उपदेश दिया था। अस्तु, भगवान् के चरणों का सहारा पाकर ही उस समय मानव-जाति संसार-सागर से पार हो सकी।

भली-भांति नमस्कार से अभिप्राय है—मन, वचन और शरीर की एकाग्रता-पूर्वक प्रभु के चरणों में प्रणाम करना। श्रद्धा का प्रवाह जब उक्त तीनों मार्गों से एकरूप होकर बहता है, तभी कोटि-कोटि जन्मों के पाप धुलकर साफ होते हैं।

‘स्वर्ग के इन्द्रों ने त्रिभुवन-मोहक स्तोत्रों से जिनकी स्तुति की है, उस भगवान् ऋषभदेव की मैं भी स्तुति करूँगा—उक्त कथन से आचार्य श्री मानतुंग अपनी लघुता प्रकट करते हैं, कि कहीं मैं और कहीं इन्द्र। भगवान् की स्तुति मुझसे क्या होगी? फिर भी मैं स्तुति करूँगा अर्थात् स्तुति करने का प्रयत्न करूँगा।

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित - पादपीठ !

स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगत - त्रपोऽहम् ।

बालं विहाय जल - संस्थितमिन्दुबिम्ब—

मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चित - पादपीठ) देवों के द्वारा जिनके चरण रखने की चौकी पूजित है, ऐसे हे जिनेन्द्र ! (विगत-त्रपः) लज्जा - रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धि के बिना भी (स्तोतुम्) स्तुति करने के लिए,

(समुद्यतमतिः) तत्पर हो रहा हूँ। (बालम्) बालक—
अज्ञानी को (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः)
कौन मनुष्य (जल-संस्थितम्) जल में स्थित—रहे हुए
(इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को (सहसा) बिना
विचारे (ग्रहीतुम्) पकड़ने की (इच्छति) इच्छा करता है ?
अर्थात् कोई भी नहीं करता ॥३॥

भावार्थ— हे देवताओं से पूजित सिंहासन वाले
जिनेंद्र ! मैं कितना अधिक निर्लज्ज मूर्ख हूँ, जो कि बुद्धि
न होने पर भी आपकी स्तुति करने के लिए तैयार हो
गया हूँ। मेरा यह उपक्रम, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र-
मण्डल को ग्रहण करने के समान है। नासमझ बालक
के सिवा भला कौन ऐसा वयस्क मनुष्य होगा, जो जल
में पड़ने वाले चन्द्रबिम्ब को पकड़ने की इच्छा करे ?

टिप्पणी

आचार्यश्री भगवान् के गुणों का वर्णन करने में अपनी
बालकों जैसी अज्ञानता सूचित करते हैं। जल में प्रतिबिम्बित
चन्द्र को पकड़ने वाले अबोध बालक का उदाहरण बहुत ही
हृदय-स्पर्शी है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को
पकड़ना असम्भव है, उसी प्रकार आपकी अनन्त महिमा को

वर्णन की परिधि में लाना भी असम्भव है। असम्भव कार्य में बालक ही हाथ डालते हैं।

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,

कस्ते क्षमः सुरगुरु - प्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।

कल्पान्त - काल - पवनोद्धत - नक्रचक्रं,

को वा तरीतुमलम्बुनिधि भुजाभ्याम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र) हे गुणों के सागर (बुद्ध्या) बुद्धि से (सुरगुरु-प्रतिमः अपि) बृहस्पति के समान भी (कः) कौन पुरुष (ते) आपके (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमा के समान सुन्दर (गुणान्) गुणों को (वक्तुं) कहने में (क्षमः) समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं। (वा) अथवा (कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-नक्रचक्रम्) प्रलय-काल के अंधड़ से विक्षुब्ध मगरमच्छों का समूह जिसमें उछल रहा हो, ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्र को (भुजाभ्याम्) भुजाओं से (तरीतुम्) तैर कर पार करने में (कः अलम्) कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं ॥४॥

भावार्थ—हे गुणों के समुद्र ! बुद्धि के विकास में भले ही कोई देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान हो, फिर भी क्या वह आपके चन्द्रमा जैसे निर्मल एवं सुन्दर अनन्त गुणों का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है ?

भला वह भीषण महासमुद्र, जिसमें प्रलयकाल के अन्धड़ से विक्षुब्ध हुए हजारों मगरमच्छ उछल रहे हों, कभी भुजाओं से तैर कर पार किया जा सकता है? कभी नहीं।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !

कर्तुं स्तवः विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।

प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,

नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ।५।

अव्ययार्थ— (मुनीश) हे मुनियों के स्वामी !

(तथापि) तो भी (सःअहम्) वह अल्पज्ञ मैं, (विगतशक्तिः अपि) शक्ति रहित होते हुए भी (भक्तिवशात्) भक्ति के वश (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति (कर्तुम्) करने के लिए (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूँ। (मृगः) बेचारा हिरन (आत्मवीर्यं अविचार्यं) अपनी शक्ति का विचार किये बिना केवल (प्रीत्या) प्रेम के वश (निजशिशोः) अपने बच्चे की (परिपालनार्थम्) रक्षा के लिए (किम्) क्या (मृगेन्द्रं न अभ्येति) सिंह के सामने नहीं अड़ जाता है? अर्थात् अड़ ही जाता है।

भातार्थ— हे मननशील मुनियों के स्वामी ! यद्यपि मैं आपके अनन्त गुणों का वर्णन कर सकने में सर्वथा

असमर्थ हैं, तथापि आपकी भक्ति से प्रेरित होकर स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हो रहा हूँ, असम्भव को भी संभव बना रहा हूँ।

संसार जानता है, कि बेचारा हिरन कितना दुर्बल प्राणी है, परन्तु क्या वही हिरन अपने शिशु की रक्षा के लिए, प्रेम के वश अपने बल का कुछ भी विचार न कर, क्रुद्ध सिंह के समक्ष अड़ नहीं जाता है? अवश्य अड़ जाता है।

टिप्पणी

प्रेम ऐसी ही चीज है। प्रेम में शक्ति और अशक्ति का भान ही नहीं रहता। सच्चा प्रेमी असम्भव-से-असम्भवतर कार्य को भी करने के लिए साहस कर डालता है। यह साहस संसार में अमर-कीर्ति प्राप्त करता है। आचार्य कहते हैं कि 'भगवत्प्रेम की धुन में किया जानेवाला मुझ अशक्त का यह स्तुति करने का दुःसाहस भी भक्तों के समाज में चिर-प्रशंसनीय रहेगा।' प्रेम के संबंध में अपने बालक की रक्षा के लिए सिंह से लड़ने वाले हिरन का उदाहरण अतीव उत्कृष्ट है।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास - धाम,

त्वद्-भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्भाम् ।

यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,

तच्चाम्रचारु-कलिका - निकरैकहेतु ॥६॥

अन्वयार्थ— (अल्पश्रुतम्) मैं अल्पज्ञ हूँ, अतएव (श्रुतवताम्) विद्वानों की, (परिहासधाम) हंसी के स्थान-पात्र (माम्) मुझे (त्वद्भक्तिः एव) आपकी भक्ति ही (वलात्) जबर्दस्ती (मुखरीकुरुते) वाचाल कर रही है (किल) निश्चय से (मधौ) वसन्त-ऋतु में (कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत् च) और वह (आम्रचारुकलिकानिकरैकहेतुः) आम की सुन्दर मंजरी के समूह के कारण ही करती है ॥६॥

भावार्थ—प्रभो ! मैं अल्पज्ञ हूँ । विद्वानों की हंसी का पात्र हूँ । भला मैं आपकी स्तुति करना क्या जानूँ ? परन्तु क्या करूँ, आपकी भक्ति ही मुझे जबर्दस्ती स्तुति करने के लिए मुखर अर्थात् वाचाल कर रही है ।

कोयल दूसरी ऋतुओं में इतनी अच्छी तरह नहीं बोलती ! मधुमास—वसन्त के आने पर ही क्यों मधुर कूजन करती है ? आम की सुन्दर कलिकाओं का समूह ही इसका एकमात्र कारण है ।

टिप्पणी

वसन्त में आम पर लगे बौर को देखकर और खाकर कोयल का चिरकाल से रुंधा हुआ कण्ठ अपने आप ही रस-माधुरी

की वर्षा करने लगता है। आचार्य कहते हैं, कि मुझे भी इसी तरह आपकी दिव्य-भक्ति का रसास्वादन अपने आप बोलने के लिए लालायित कर रहा है। मुझे आशा है, आपकी भक्ति मेरे नीरस शब्दों में मधुरता पैदा करेगी।

त्वत्संस्तवेन भवसंतति - सन्निवद्धं,

पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर - भाजाम् ।

आक्रान्त - लोकमलिनीलमशेषमाशु,

सूर्याशुभिन्नमिव शार्वरमंधकारम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुति से (शरीर-भाजाम्) प्राणियों के (भवसन्तति - सन्निवद्धम्) अनेक जन्म - परंपरा से बंधे हुए (पापम्) पाप-कर्म (आक्रान्त-लोकम्) सम्पूर्ण लोक में फैले हुए (अलिनीलम्) भाँरों के समान काला (शार्वरम्) रात्रि का (अशेषम् अंधकारम्) संपूर्ण अंधकार (सूर्याशुभिन्नम् इव) जैसे सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी तरह पूर्ववद्ध कर्म (क्षणात्) क्षणभर में (आशु) शीघ्र ही (क्षयम् उपैति) नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

भावार्थ—भगवान् ! आपकी स्तुति का चमत्कार अलौकिक है। कोटि - कोटि जन्मों का बंधा हुआ संसारी-जीवों का पाप-कर्म, आपकी स्तुति के प्रभाव से क्षण - भर में विनाश को प्राप्त हो जाता है।

कैसे विनाश को प्राप्त हो जाता है ? जैसे कि समग्र विश्व पर छाया हुआ, भौरे के समान अत्यन्त काला अमावस्या की रात्रि का सघन अन्धकार, प्रातः कालीन सूर्य की उज्ज्वल किरणों के उदय होने से विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी

प्रभो ! आपके गुण-कीर्तन से, आपकी स्तुति से मेरे अन्तर्तम के समग्र पाप उसी प्रकार समाप्त हों, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से रात्रि का सघन अन्धकार नष्ट ही जाता है ।

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-

मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात् ।

चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,

मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८॥

अव्ययार्थ-(नाथ) ! हे स्वामिन् (इति मत्वा) ऐसा मानकर ही (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्द - बुद्धि के द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है कि (तव प्रभावात्) आपके प्रभाव से वह (सताम्) सज्जनों के (चेतः) चित्त को उसी तरह (हरिष्यति) हरण करेगा (ननु) निश्चय ही जैसे (उद-बिन्दुः) जल-बिन्दु (नलिनीदलेषु) कमलिनी

के पत्तों पर (मुक्ताफलद्युतिम्) मोती के समान कान्ति को (उपैति) प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ - हे नाथ ! यह मेरा तुच्छ स्तोत्र आपके प्रभाव से अवश्य ही सज्जन पुरुषों के मन को हरण-मुग्ध करनेवाला होगा—यह जानकर ही मैं अपनी मन्द-मति का सहारा लेकर आपका स्तवन रचने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ ।

पानी की नन्हीं-सी बूँद में स्वयं कोई चमत्कार नहीं है, परन्तु वही कमलिनी के स्वच्छ पत्र का संसर्ग पाकर अनमोल मोती की शोभा को प्राप्त कर लेती है ।

टिप्पणी

सत्संग की महिमा बहुत बड़ी है । यह सत्संग का ही प्रभाव है, कि कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद मोती-सी झलक पा लेती है । आचार्य कहते हैं कि इसी तरह 'यह साधारण-सी स्तुति भी आपके सम्बन्ध के प्रभाव से सत्-पुरुषों के मन को हर लेगी, उत्कृष्ट रचनाओं में स्थान पाएगी ।' आचार्य की भविष्य-वाणी सर्वथा सत्य ही प्रमाणित हुई । हजार वर्ष आए और चले गए । भक्तामर आज भी भक्तों के हृदय का हार बना हुआ है ।

आस्तां तव स्तवनमस्त-सप्तस्त-दोषं,

त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।

दूरे सहस्र - किरणः कुरुते प्रभैव,

पद्माकरेषु जलजानि विकाश-भाञ्जि ॥९॥

अन्वयार्थ-(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषों से रहित (तव स्तवनम् आस्ताम्) आपका स्तवन तो दूर रहा, किन्तु (त्वत् संकथा अपि) आपकी पवित्र कथा भी (जगताम्) जगत् के जीवों के (दुरितानि) पापों को (हन्ति) नष्ट कर देती है। (सहस्रकिरणः) सूर्य (दूरे) दूर रहता है, पर उसकी (प्रभाएव) प्रभा ही (पद्माकरेषु) सरोवरों में (जलजानि) कमलों को (विकासभाञ्जि) विकसित (कुरुते) कर देती है ॥६॥

भावार्थ-हे जिनेन्द्र ! समस्त दोषों को नष्ट करने वाला आपका पवित्र स्तोत्र तो विलक्षण चमत्कार रखता ही है, परन्तु वह तो दूर रहा, यहाँ तो श्रद्धा से उच्चारण किया जाने वाला आपका छोटे-से-छोटा नाम भी त्रिभुवन के पापों को नष्ट कर देता है।

अरुणोदय के समय हजार किरणों वाला सूर्य तो दूर ही रहता है, परन्तु उसकी भू-मण्डल पर सर्वप्रथम अवतरित होने वाली प्रभा ही सरोवर के रात - भर के मुरझाए हुए कमलों को विकसित कर देती है।

टिप्पणी

जब कि सूर्य की प्रातःकालीन अरुणप्रभा से ही कमल खिल जाते हैं, तो सूर्य के साक्षात् उदय होने पर क्यों न खिलेंगे ?

अवश्य खिलेंगे । आचार्य कहते हैं, कि भला जब आपके नाम के उच्चारण मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, तो स्तुति से तो अवश्य होंगे ही ।

प्रस्तुत स्तुति-श्लोक का पाठ करते समय साधक को यह भावना भानी चाहिए कि—“भगवन् ! मैं कमल हूं, आप रवि हैं । आपके दिव्य आलोक का स्पर्श पा कर मेरे अनन्त अध्यात्मिक जीवन-कमल का विकास हो, मेरे अनन्त आनन्द की अभिवृद्धि हो ।”

नात्यद्भुतं भुवन - भूषण ! भूतनाथ !

भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,

भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भुवनभूषण !) हे संसार के भूषण ! (भूतनाथ !) हे प्राणियों के स्वामी ! (भूतैः गुणैः) सच्चे गुणों के द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करने वाले पुरुष (भुवि) पृथ्वी पर (भवन्तः) आपके (तुल्याः) समान (भवन्ति) हो जाते हैं (इदम् अत्यद्भुतं न) यह बड़े आश्चर्य की बात नहीं है । (वा) अथवा (तेन) उस स्वामी से (किम्) क्या प्रयोजन है ? (यः) जो

(इह) इस लोक में (आश्रितम्) अपने आश्रित जन को (भूत्या) सम्पत्ति—ऐश्वर्य से (आत्मसमम्) अपने बराबर (न करोति) नहीं कर देता ! ॥१०॥

भातार्थ— हे जगत् के भूषण ! हे प्राणिमात्र के नाथ ! अनेकानेक यथार्थ सद्गुणों के उल्लेख के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले सज्जन आपके समान ही उच्च पद पाकर विश्व-वन्द्य हो जाते हैं, यह कोई महान् आश्चर्य की बात नहीं है ।

भला, संसार में जो स्वामी अपने आश्रित सेवक को अपने जैसा समृद्ध-सुखी नहीं बनाता, उस स्वामी की सेवा से क्या लाभ ? कुछ नहीं । योग्य स्वामी का सेवक आखिर स्वामी के समान महान् बन ही जाता है ।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आचार्यश्री ने जैन-धर्म का मर्म भर दिया है । जैन-धर्म अन्य दर्शनों की तरह केवल प्रभु के दर्शन तक ही सीमित नहीं है, वह तो प्रभु के दर्शन के बाद प्रभु बनने की भूमिका तक पहुँचने का ऊँचा आदर्श रखता है । मनुष्य जैसी भावना रखता है, जैसे संकल्पों में बसता है, वैसा ही बन जाता है । शैतान का भक्त शैतान बनता है, तो भगवान् का भक्त भगवान् बनता है । अर्हन्त भगवान् की गुण-गाथा गाने से

तीर्थकर नामकर्म का बन्ध होता है। इसके लिए ज्ञाता - सूत्र देखने का कष्ट करें।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष - विलोकनीयं,

नान्यत्र तोवमुपयाति जनस्य चक्षुः।

पीत्वा पयः शशिकर - द्युतिदुग्धसिन्धोः,

क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥११॥

अव्ययार्थ— (अनिमेषविलोकनीयम्) बिना पलक झपकाये - एकटक देखने के योग्य, (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर (जनस्य) मनुष्य के (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी जगह (तोषम्) सन्तोष (न उपयाति) नहीं पाते। (दुग्धसिन्धोः) क्षीर-सागर के (शशिकरद्युति) चन्द्रमा के समान कान्ति वाले (पयः) पानी को (पीत्वा) पीकर (कः) कौन पुरुष (जलनिधेः) समुद्र के (क्षारंजलम्) खारे पानी को (रसितुम् इच्छेत्) पीना चाहेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥११॥

भावार्थ— प्रभो ! आपका अलौकिक सौन्दर्य निर्निमेष एकटक देखने योग्य है। आप जब आँखों के समक्ष हों, तो भक्त के लिए पलक का झपकना भी असह्य है। इस प्रकार आप जैसे दिव्य - शोभाधाम के एक बार दर्शन कर लेने के बाद मनुष्य की आँखें अन्यत्र कहीं सन्तुष्ट ही नहीं हो सकतीं।

चन्द्र की किरणों के समान अति उज्ज्वल एवं निर्मल क्षीर-सागर का मधुर जल पीने के बाद, भला लवण-समुद्र का खारा जल कौन पीना चाहेगा? कोई भी नहीं।

टिप्पणी

वीतराग के भक्त को किसी राग-द्वेषयुक्त संसारी देव से कैसे सन्तोष मिल सकता है? क्षीर-समुद्र का मधुर एवं निर्मल जल पी लेने के बाद, लवण समुद्र का खारा और गंदा जल भला कभी अच्छा लग सकता है? कदापि नहीं।

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,

निर्मापितस्त्रिभुवनैक - ललामभूत !

तावन्त एव खलु तेऽणवः पृथिव्यां,

यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥१२॥

अव्ययार्थ — (त्रिभुवनैकललामभूत !) हे त्रिभुवन के एकमात्र आभूषण (त्वम्) आप (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) शान्तरस से उज्ज्वल (परमाणुभिः) परमाणुओं से (निर्मापितः) रचे गए हैं (खलु) निश्चय ही (पृथिव्याम्) पृथ्वी पर (ते अणवः अपि) वे अणु भी (तावन्तएव) उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्) आपके समान (अपरं रूपम्) दूसरा रूप (नहि अस्ति) नहीं है ॥१२॥

भावार्थ—हे त्रिभुवन के एकमात्र श्रृंगार ! शान्त-रस की छवि वाले जिन मनोहर परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित हुआ है, वे परमाणु भू-मण्डल पर बस उतने ही थे, अधिक नहीं। क्योंकि संसार में आपके समान अन्य किसी का सुन्दर रूप है ही नहीं। यदि अन्य परमाणु होते, तो दूसरा कोई सुन्दर भी रूप न बन जाता ?

टिप्पणी

यह उत्प्रेक्षा अलंकार की उड़ान है। संसार में सुन्दर परमाणुओं की कमी नहीं हैं, परन्तु आचार्य तो भगवान् को अद्वितीय सुन्दर बताना चाहते हैं। इसलिए यह उदात्त कल्पना करते हैं, कि बस श्रेष्ठ परमाणु उतने ही थे, अधिक नहीं। यदि होते, तो आपके समान दूसरा भी कोई सुन्दर रूप न बन ही जाता।

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,

निःशेष - निर्जित - जगत् - त्रितयोपमानम् ।

बिम्बं कलङ्क-मलिनं क्व निशाकरस्य,

यद् वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् । १३।

अन्वयार्थ— (सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य तथा नागेन्द्र के नेत्रों को हरण करनेवाला एवं (निःशेषनिर्जित-जगत्-त्रितयोपमानम्) जिसने तीनों जगत् की उपमाओं

को सम्पूर्ण रूप से जोत लिया है, वह (ते वक्त्रम्) आपका मुख (क्व) कहाँ और (कलंकमलिनम्) कलंक से मलिन (निशाकरस्य) चन्द्रमा का (तद् विम्बम्) वह मण्डल (क्व) कहाँ, (यत्) जो (वासरे) दिन में (पलाश-कल्पम्) ढाक के पत्ते की तरह (पाण्डु) पीला—फीका (भवति) हो जाता है ।

भावार्थ—भगवन् ! आपके मुखमण्डल को चन्द्र-मण्डल से उपमा देना, क्या कोई ठीक बात है ? नहीं, कदापि नहीं । भला देव, मनुष्य और नाग कुमारों के नेत्रों को मोहित करने वाला एवं तीनों जगत् की ऊँची से ऊँची उपमाओं को पूर्णरूप से पराजित कर देनेवाला आपका सदा प्रकाशमान सुन्दर मुख कहाँ ? और कहाँ वह कलंक से मलिन चन्द्र-मण्डल, जो कि दिन में ढाक के पीले पड़े हुए पत्ते के समान सर्वथा निस्तेज हो जाता है ?

सम्पूर्ण - मण्डल - शशाङ्क - कलाकलाप-

शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।

ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकं ,

कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम् । १४।

अठ्वयार्थ—(सम्पूर्णमण्डल-शशाङ्ककलाकलापशुभ्रा) पूर्ण चन्द्रमण्डल की कलाओं के समान स्वच्छ (तव) आपके

(गुणाः) गुण (त्रिभुवनम्) तीनों लोकों को (लंघयन्ति) लांघ रहे हैं—सर्वत्र फैले हुए हैं। (ये) जो (एकम्) मुख्य रूप से (त्रिजगदीश्वरनाथम्) तीनों लोकों के नाथ के (संश्रिता) आश्रित हैं, उन्हें (यथेष्टम्) इच्छानुसार (संचरतः) विचरण करते हुए (कः) कौन (निवारयति) रोकता है? कोई नहीं रोक सकता ॥१४॥

भावार्थ—हे त्रिभुवन के नाथ ! पूर्णमासी के चन्द्र की कलाओं के समूह के समान आपके अत्यन्त निर्मल गुण त्रिभुवन में सब ओर व्याप्त हो रहे हैं— फैले हुए हैं।

ठीक है, जो आप जैसे विश्व के एकमात्र अधिष्ठाता प्रभु का आश्रय पाए हुए हैं, उन्हें इच्छानुसार विचरण करने से भला कौन रोक सकता है? कोई नहीं।

टिप्पणी

अपनी इच्छानुसार अव्याहतगति से त्रिभुवन में प्रसार पाने वाले आपके सद्गुणों को रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है, प्रभो ! आपके उन दिव्य गुणों को मुझ में क्यों न आने दो ?

भगवान् के अनन्त गुण तीनों लोक में विचरण करते हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि भगवान् के गुण तीन लोक में सर्वत्र गाये जाते हैं। अन्यथा दार्शनिक दृष्टि से आत्म के गुण आत्मा में ही रहते हैं, आत्मा से बाहर नहीं।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्-

नीलं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।

कल्पान्त - काल - मरुता चलिताचलेन,

किं मन्दराद्रिशिखरं चलित कदाचित् ।१५।

अन्वयार्थ- (यदि) अगर (ते) आपका (मन) मन (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवाङ्गनाओं के प्रदर्शन से (मनाक्अपि) जरा-सा भी (विकारमार्गं न नीतम्) विकार भाव को प्राप्त नहीं हो सका, तो (अत्र) इस बात में (किमचित्तम्) आश्चर्य ही क्या है ? (चलिताचलेन) पहाड़ों को भी हिला देनेवाले (कल्पान्तकालमरुता) प्रलयकाल के झंझावात द्वारा (किम्) क्या (कदाचित्) कभी (मन्दराद्रिशिखरम्) मेरु पर्वत का शिखर (चलितम्) हिलाया जा सकता है ? कभी नहीं ॥१५॥

भावार्थ- हे वीतराग ! स्वर्ग की अप्सराओं ने आकर आपके समक्ष विभ्रम-विलास का खुलकर प्रदर्शन किया, परन्तु वे आपके विरक्त मन को क्षण - भर के लिए भी विकार के पथ पर न ले जा सकीं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

प्रलयकाल के महावायु ने असंख्य बार बड़े - बड़े विशालकाय पर्वतों को भी उखाड़ कर चकनाचूर कर

दिया, परन्तु क्या कभी वह गिरिराज सुमेरु के शिखर को भी विकम्पित कर सका है ? कभी नहीं ।

टिप्पणी

उक्त श्लोक की यह भावना है—“देव ! आप दिव्य-शक्ति के अक्षय निधि हैं । आपकी कृपा से मुझ में भी ब्रह्मचर्य की वह दिव्य-शक्ति सम्भूत हो, जिससे मैं विश्व - सुन्दरियों के मोह-पास को तोड़ सकूँ ।”

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूरः,

कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।

गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,

दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! आप (निर्धूमवर्तिः) धुएँ तथा बाती से रहित, निर्दोष प्रवृत्ति वाले और (अपवर्जित तैलपूरः) तेल से शून्य होकर भी (इदम्) इस (कृत्स्नम्) समस्त (जगत्त्रयम्) त्रिभुवन को (प्रकटीकरोषि) प्रकाशित कर रहे हैं, तथा आप (चलिताचलानाम्) पर्वतों को कम्पायमान कर देने वाली (मरुताम्) हवाओं के लिए (गम्ये न) गम्य नहीं हैं— वे भी आप पर असर नहीं कर सकतीं । इस तरह (त्वम्) आप (जगत्प्रकाशः) संसार को प्रकाशित करने वाले, (अपरः दीपः) अद्वितीय दीपक (असि) हैं ॥१६॥

भावार्थ—हे नाथ ! आप जगत् को प्रकाशित करने वाले एक अलौकिक दीप हो, आपको न बात्ती की आवश्यकता है, न तेल की अपेक्षा है, न आप से धुंआ ही निकलता है। अर्थात् आप वाह्य अपेक्षाओं तथा दोषों से मुक्त निर्मल ज्योति हैं। बड़े-बड़े पर्वतों को कंपित कर देने वाला भंभावात भी आप पर कुछ असर नहीं कर सकता। दीपक, घर के किसी एक कोने को ही प्रकाशित करता है, किन्तु आप तो सम्पूर्ण तीनों जगत् को एक साथ आलोकित करते हैं।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,

स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।

नाम्भोधरोदरनिरुद्ध - महाप्रभावः

सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

अन्वयार्थ - (मुनीन्द्र !) हे मुनियों के इन्द्र ! आप (कदाचित्) कभी भी (न अस्तं उपयासि) न अस्त होते हैं (न राहुगम्यः) न राहु के द्वारा ग्रस्त होते हैं और (न अम्भोधरोदरनिरुद्ध-महाप्रभावः) न मेघ से ही आप का महान् तेज अवरुद्ध हो सकता है। आप तो (युगपत्) एक साथ (जगन्ति) तीनों लोकों को (सहसा) शीघ्र ही (स्पष्टी करोषि) प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार आप (लोके सूर्यातिशायि महिमासि) जगत् में सूर्य से बढ़कर महिमा वाले हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ- हे मुनीन्द्र ! आप सूर्य से भी अधिक विलक्षण महिमाशाली हैं । सूर्य प्रतिदिन उदय होने के बाद रात्रि में अस्त होता है, परन्तु आपका केवलज्ञान-सूर्य तो सदा प्रकाशमान रहता है, कभी अस्त ही नहीं होता । सूर्य को राहु ग्रस लेता है, परन्तु आपको राहु-रूप कोई भी भौतिक आकर्षण ग्रस्त नहीं कर सकता । सूर्य परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, वह भी क्रम से, परन्तु आप तो तत्काल एक ही समय में सम्पूर्ण तीनों जगत् को केवलज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित करते हैं । सूर्य के तेज को साधारण मेघ भी ढक देता है, परन्तु आपके महाप्रभाव को संसार की कोई भी शक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती ।

टिप्पणी

आचार्य ने भगवान् को सूर्य से भी अधिक महान् प्रभाव-शाली बताया है । आचार्यश्री अखिल संसार के कविवरों के समक्ष उद्धोषणा करते हैं, कि—“भगवान् को सूर्य की उपमा देना किसी तरह भी उचित नहीं है । कहाँ अनन्त चैतन्य आलोक के स्वामी भगवान् और कहाँ सीमाबद्ध जड़ सूर्य ?”

नित्योदयं दलितमोह - महान्धकारं,

गम्यं न राहु - वदनस्य न वारिदानाम् ।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति ,
विद्योतयज्जगदपूर्व-शशाङ्क-बिम्बम् ॥१८॥

अन्वयार्थ- (नित्योदयम्) हमेशा उदय रहने वाला, (दलितमोह - महान्धकारम्) मोहरूपी महान् अन्धकार का नाशक, (राहुवदनस्य न गम्यम्) राहु के मुख द्वारा ग्रस्त नहीं होता (वारिदानां न गम्यम्) बादलों के द्वारा ढक नहीं जाता (अनल्प-कान्ति) अधिक कांतिमान् और (जगत् विद्योतयत्) संसार को प्रकाशित करता हुआ (तव मुखाब्जम्) आपका मुख कमल (अपूर्व शशांक बिम्बम्) अपूर्व चन्द्र - बिम्ब के रूप में (विभ्राजते) सुशोभित हो रहा है ॥१८॥

भावार्थ- हे भगवन् ! आपका अनन्त ज्योतिर्मय मुख - कमल अपूर्व चन्द्रबिम्ब के रूप में अखिल विश्व को आलोकित करता हुआ चमकता है। आपका मुखचन्द्र सदा उदयमान ही रहता है, कभी अस्त नहीं होता। भक्त-हृदय के मोह-रूपी सघन अन्धकार को नष्ट करता है। न कभी राहु से ग्रसा जाता है, और न कभी मेघों की ओट में ही छिपता है।

किं शर्वरोषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?

युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमस्सु नाथ !

निष्पन्नशालिवनशालिनि जीव - लोके,

कार्यं कियज्जलधरैर्जलभार-नम्रैः ॥१६॥

अन्यथा— (नाथ !) हे स्वामिन् ! (युष्मन्मुखेन्दु-
दलितेषु तमस्सु) आपके मुखरूप चन्द्रमा के द्वारा अन्धकार
के नष्ट हो जाने पर (शर्वरीषु) रात्रि में (शशिना) चन्द्रमा
से (वा) अथवा (अह्नि) दिन में (विवस्वता) सूर्य से
(किम्) क्या प्रयोजन है ? (निष्पन्नशालिवनशालिनि)
पैदा हुए धान्य के वनों से शोभायमान (जीवलोके) संसार
में (जलभारनम्रैः) पानी के भार से झुके हुए (जलधरैः)
बादलों से (कियत् कार्यम्) कितना काम का रह जाता है ?
कुछ भी नहीं ॥१६॥

भावार्थ—हे नाथ ! जब आपके मुखचन्द्र ने अन्धकार
को नाश कर समूचे विश्व को प्रकाशित कर दिया है,
तब फिर रात्रि में चन्द्रमा की और दिन में सूर्य की
क्या आवश्यकता है ? दोनों अन्यथा सिद्ध हैं ।

जब पूर्ण परिपक्व धान के खेतों से भूमण्डल शोभित
हो रहा हो, तो फिर जल के भार से झुके हुए बरसने
वाले बादलो से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ।

टिप्पणी

हे प्रकाश के देवता ! आप मेरे हृदय में प्रकाश की वह

ज्योति भरना, जिससे मुझे बाहर के चन्द्र और सूर्य के प्रकाश की कभी अपेक्षा ही न रहे ।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,

नैवं तथा हरि - हरादिषु नायकेषु ।

तेज स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,

नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(त्वयि) आप में (कृतावकाशम्) अवकाश स्थान को प्राप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (यथा) जिस प्रकार (विभाति) शोभायमान होता है, (एवं तथा) उस प्रकार (हरिहरादिषु) विष्णु - शंकर आदि (नायकेषु) देवों में (न विभाति) सुशोभित नहीं होता (स्फुरन्मणिषु) चमकती हुई मणियों में (तेजः) तेज (यथा) जैसा (महत्त्वं याति) महत्त्व पाता है, (तु एवं) वैसा महत्त्व तो (किरणाकुले अपि) किरणों से व्याप्त (काचशकले) काच के टुकड़े पर (न याति) नहीं पाता ॥२०॥

भावार्थ—हे भगवान् ! तीनों लोक को प्रकाशित करने वाला दिव्य-ज्ञान जैसा आप में पूर्ण रूप से उद्भासित है, वैसा हरि-हर आदि अन्य देवताओं में नहीं है ।

यह ठीक भी है । क्योंकि जैसा प्रकाशमान तेज बहु-सूत्र्य रत्नों में मिलता है, वैसा काच के टुकड़ों में कहीं

है ? भले ही वह धूप में पड़ा हुआ सूर्य-किरणों से कितना ही क्यों न चमक रहा हो ?

मन्ये वरं हरि - हरादय एव दृष्टा,
 दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
 किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
 कश्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥२॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् (मन्ये) मैं मानता हूँ कि (दृष्टाः) देखे गए (हरि - हरादयः एव) विष्णु-महादेव आदि देव ही (वरम्) अच्छे हैं। (येषु दृष्टेषु) जिनके देखे जाने पर (हृदयम्) मन (त्वयि) आपके विषय में (तोषम् एति) सन्तुष्ट हो जाता है। (भवता) आपके (वीक्षितेन) दर्शन से (कम्) क्या लाभ है ? (येन) जिससे कि (भुवि) पृथ्वी पर (अन्यः कश्चित्) दूसरा कोई देव (भवान्तरेऽपि) दूसरे जन्म में भी (मनः) चित्त को (न हरति) हर नहीं पाता ॥२॥

भावार्थ—हे नाथ ! मैं तो आपके दर्शन की अपेक्षा हरिहर आदि अन्य देवों के दर्शन को ही अच्छा समझता हूँ, जिनके दर्शन करने के बाद हृदय आप में तो सन्तोष पा लेता है। परन्तु, आपके दर्शन से क्या लाभ ? क्योंकि आपके एक वार दर्शन कर लेने के बाद संसार में अन्य

कोई देव, इस जन्म में तो क्या, जन्म-जन्मान्तर में भी मन को आकृष्ट नहीं कर सकता ।

टिप्पणी

राग-द्वेषयुक्त हरि-हर आदि दूसरे देवताओं के दर्शन की अपेक्षा भगवान् के दर्शन को हीन बताना, व्याजस्तुति अलंकार है । व्याजस्तुति अलंकार का अर्थ है, कि ऊपर से शब्दों में तो निन्दा दिखाई दे, परन्तु अन्दर में स्तुति ध्वनित हो । प्रस्तुत श्लोक में भी निन्दा की ओट में स्तुति बड़ी सुन्दर मालूम होती है—जैसे हलके बादलों की ओट में चन्द्र ।

आचार्य का अन्तरंग अभिप्राय यह है, कि दूसरे देवताओं के दर्शन करते हैं, तो वे राग-द्वेष-युक्त मालूम होते हैं, किसी के अन्दर भी वास्तविक देवत्व के दर्शन नहीं होते हैं । अतः सच्चे देव की शोध चालू रहती है और अन्त में आप - जैसे वीतराग देव के दर्शन पाकर ही सन्तोष होता है । और, जब आपके एक वार दर्शन हो गए, तो फिर स्वप्न में भी मन अन्य देवताओं की ओर नहीं जाता । असली वस्तु मिलने पर फिर नकली कौन पसन्द करता है ? अतः भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद और कोई देवता फिर पसन्द ही नहीं आता ।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्

नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्र-रश्मिं,

प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्त्रीणां शतानि) सैकड़ों स्त्रियाँ (शतकः) सैकड़ों (पुत्रान्) पुत्रों को (जनयन्ति) जन्म देती हैं, लेकिन (त्वदुपमम्) आप जैसे (सुतम्) पुत्र को (अन्या जननी) दूसरी कोई माता (न प्रसूता) पैदा नहीं कर सकती। (भानि) नक्षत्रों को (सर्वाः दिशः) सब दिशाएँ (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरदंशुजालं सहस्र-रश्मिम्) चमकती किरणों के समूह वाले सूर्य को (प्राची दिक् एव) पूर्व दिशा ही (जनयति) प्रकट करती है।

भावार्थ— संसार में हजारों स्त्रियाँ हजारों ही पुत्रों को जन्म देती हैं, परन्तु आपके समान महाप्रभाव-शाली पुत्र-रत्न को दूसरी किसी माता ने जन्म नहीं दिया। अर्थात् आप अपनी माता के एक अद्वितीय, अलौकिक सर्व - श्रेष्ठ पुत्र थे।

सभी दिशाएँ अपने-अपने क्षेत्र में असंख्य ताराओं को प्रकट करती हैं, परन्तु हजारों किरणों के समूह से देदीप्यमान प्रचण्ड सूर्य को तो पूर्व दिशा ही प्रकट करती है। तारे किसी भी दिशा में उदय हों, परन्तु सूर्य तो पूर्व दिशा में ही उदय होता है।

टिप्पणी

शतशः शब्द का अर्थ 'हजारों' किया है। क्योंकि 'शत' शब्द अनेक ग्रन्थों में बहुत्व का वाचक है और वह हजारों की संख्या सूचित करता है।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-

मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।

त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,

नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! वन्थाः ॥२३॥

अव्वचार्थः (मुनीन्द्र) हे मुनियों के नाथ ! (मुनयः) मननशील मुनि (त्वाम्) आपको (आदित्यवर्णम्) सूर्य की तरह तेजस्वी, (अमलम्) निर्मल और (तमसः परस्तात्) मोह-अन्धकार से परे रहने वाले, (परमं पुमांसम्) परम पुरुष (आमनन्ति) मानते हैं। वे (त्वाम् एव) आपको ही (सम्यक्) अच्छी तरह से (उपलभ्य) प्राप्त कर (मृत्युम्) मृत्यु को (जयन्ति) जीतते हैं। (शिवपदस्य) मोक्ष पद का, इसके सिवाय (अन्यः) दूसरा (शिवः) कल्याणकर (वन्थाः) मार्ग (न अस्ति) नहीं है ॥२३॥

भावार्थः हे मुनीन्द्र ! मुनि जन आपको परम पुरुष मानते हैं। आप सूर्य के समान तेजस्वी हो, अमल-राग-

द्वेष के मल से रहित हो। अज्ञान - अन्धकार से सर्वथा दूर हो। अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा आपका दर्शन पाकर ही साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं, सिद्ध होते हैं। प्रभो ! आपकी भक्ति के सिवा शिव अर्थात् मुक्तिपद का दूसरा कोई भी मंगल-मार्ग नहीं है।

टिप्पणी

भक्तामर-स्तोत्र की प्रायः जितनी भी पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं, सब में 'तमसः पुरस्तात्' पाठ मिलता है। कुछ विद्वान् टीकाकारों ने इसी पाठ के आधार पर अर्थ भी यह कर दिया है कि—'अन्धकार के आगे आप सूर्य हैं।' मैं बहुत दिनों से सोच रहा था, कि यह पाठ कुछ उचित प्रतीत नहीं होता।

'अन्धकार के आगे' इसका क्या भाव हुआ ? कुछ भी नहीं। सौभाग्य से जब मैं यजुर्वेद का स्वाध्याय करने लगा, तो वहाँ प्रस्तुत श्लोक से हूबहू मिलता हुआ मंत्र मिला और सब संशय दूर हो गया। जिस पाठ की मैंने कल्पना की थी, वही पाठ वहाँ मिला। वह पाठ था—'तमसः परस्तात्।'

यजुर्वेद का मंत्र इस प्रकार है। देखिए, कितना अधिक साम्य है :—

वेदाहमेनं पुरुषं महान्तम्—

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽलिमृत्युमेति,

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—यजु० ३।१८

जो अन्धकार से सदैव दूर है, जिसकी सूर्य जैसी कान्ति है, उस महापुरुष को मैं जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु से परे पहुँचा जाता है, वहाँ पहुँचने के लिए दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं ,

ब्रह्माण्मीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।

योगीश्वरं विदित - योगमनेकमेकं ,

ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

अन्वयार्थ— (सन्तः) साधु - सन्त (त्वाम्) आपको (अव्ययम्) अविनाशी (विभुम्) व्यापक (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (असंख्यम्) असंख्य (आद्यम्) आदि (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (ईश्वरम्) ईश्वर (अनन्तम्) अनन्त, (अनङ्गकेतुम्) कामदेव के नाशार्थ केतु - तुल्य (योगीश्वरम्) योगीश्वर (विदितयोगम्) योग के वेत्ता, (अनेकम्) अनेक (एकम्) एक (ज्ञान-स्वरूपम्) ज्ञान स्वरूप और (अमलम्) निर्मल (प्रवदन्ति) कहते हैं ॥२४॥

भावार्थ—हे भगवन् ! संसार के बड़े-बड़े ज्ञानी सत्-

पुरुष आपको अव्यय—अजर-अमर, विभु—अनन्त ऐश्वर्य-शाली, अचिन्त्य—मन की चिन्तन-धारा के लिए भी अगम्य, असंख्य—असंख्य गुणों से युक्त, आद्य—धर्म की स्थापना करने वाले, सर्वप्रथम तीर्थंकर, ब्रह्म—आध्यात्मिक आनन्द में किसी भी प्रकार की हानि से रहित ईश्वर—तीन लोक के स्वामी, अनन्त—अनन्त ज्ञान के धर्ता, अनंगकेतु—काम-विकार को नाश करने के लिए संहारक केतु ग्रह के समान, योगीश्वर—मन, वचन, शरीर के योग पर विजय पाने वाले योगियों के आराध्य देव, विदितयोग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की योग-साधना के पूर्ण ज्ञाता, अनेक—भक्तों के हृदय में नानारूप से विराजमान, एक—अलौकिक-अद्वितीय, ज्ञान-स्वरूप—शुद्ध चैतन्यरूप, अमल—क्रोध आदि कषाय के मल से सर्वथा रहित प्रतिपादित करते हैं ।

टिप्पणी

ज्योतिष-शास्त्र में केतुग्रह के सम्बन्ध में बताया गया है कि जब वह आकाश-मण्डल में आता है, तो संसार में प्रलय का दृश्य खड़ा कर देता है । केतु वह तारा है, जिसे पुंछड़िया तारा भी कहते हैं । भगवान् भी विकारों को नष्ट करने के लिए धूमकेतु ग्रह के समान हैं ।

बुद्धस्त्वमेव विबुधाचित - बुद्धि-बोधात्-

त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय - शंकरत्वात् ।

धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेविधानात्,

व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

अन्वयार्थ-(विबुधाचितबुद्धि-बोधात्) आपकी बुद्धि का बोध—ज्ञान, देवों अथवा विद्वानों द्वारा पूजित होने से (त्वमेव) आप ही (बुद्धः) बुद्ध हैं। (भुवनत्रय-शंकरत्वात्) तीनों लोकों में सुख-शान्ति करने के कारण (त्वम्) आप ही (शंकरः असि) शंकर—महादेव हैं। (शिवमार्गविधेः विधानात्) मोक्ष - मार्ग की विधि का विधान करने से (धीर !) हे धीर ! (त्वमेव) आप ही (धाता असि) विधाता—ब्रह्मा हैं और (भगवन्) हे भगवन् ! (व्यक्तम्) स्पष्टतः (त्वमेव) आप ही (पुरुषोत्तमः असि) पुरुषों में उत्तम—विष्णु हैं ॥२५॥

भावार्थ-हे देवताओं के द्वारा पूजित प्रभो ! आप में बुद्धि-ज्ञान का पूर्णरूप से विकास हुआ है, इसलिए आप बुद्ध हो। तीन लोक के प्राणियों को शङ् + कर—सुख-शान्ति प्रदान करने वाले हैं, इसलिए आप शंकर हो। हे धीर ! आप रत्नत्रय-रूप मोक्ष-मार्ग-विधि के विधाता-उपदेष्टा हैं, इसलिए आप विधाता—ब्रह्मा हो।

हे भगवन् ! संसार के सब पुरुषों में उत्तम होने के कारण वस्तुतः पुरुषोत्तम विष्णु भी आप ही हो ।

टिप्पणी

संसार में साम्प्रदायिक द्वन्द्व बड़े भयंकर परिणाम लाते हैं अपने-अपने देवों के अलग-अलग नाम रखकर धर्मों की एकता के क्षेत्र को छिन्न-भिन्न करना भी साम्प्रदायिक नेताओं का काम रहा है । जैन-दर्शन इस साम्प्रदायिक विचार-धारा का कट्टर विरोधी है । वह अनेकता में एकता की और भेद में अभेद की स्थापना करता है । आचार्यश्री ने इस आदर्श को लेकर अपनी विलक्षण काव्य - प्रतिभा के द्वारा बुद्ध, शङ्कर, ब्रह्मा और विष्णु के नामों का समन्वय बड़े सुन्दर रूप में करके दिखाया है ।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !

तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।

तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,

तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि-शोषणाय ॥२६॥

अन्वयार्थ-(नाथ) हे स्वामिन् ! (त्रिभुवनार्तिहराय) तीनों लोकों की पीड़ा— दुःख को हरण करने वाले (तुभ्यं नमः) आपको नमस्कार हो । (क्षितितलामलभूषणाय) भूतल के निर्मल आभूषणरूप (तुभ्यं नमः)

आपको नमस्कार हो । (त्रिजगत्: परमेश्वराय) तीनों जगत् के परमेश्वर रूप (तुभ्यं नमः) आपको नमस्कार हो और (जिन !) हे जिनेश्वर ! (भवोद्गधि - शोषणाय) संसार - समुद्र को सुखाने वाले (तुभ्यं नमः) आपकी नमस्कार हो ॥२६॥

भ्रातार्य—हे नाथ ! त्रिभुवन के दुःख हरने वाले आप को नमस्कार है । भूमण्डल के एकमात्र निर्मल अलंकार, आपको नमस्कार है । तीन जगत् के परमेश्वर, आपको नमस्कार है । हे राग-द्वेष के विजेता ! आप संसार रूपी महासागर के शोषण करने वाले हैं, अतः आपको कोटि-कोटिवार नमस्कार है ।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्--

त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !

दोषैरुपात्त - विविधाश्रय - जातगर्वै,

स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अन्वयार्थ—(मुनीश !) हे मुनियों के स्वामी ! (यदि नाम) यदि (निरवकाशतया) अन्य स्थल में अवकाश न मिलने के कारण (अशेषैः गुणैः) समस्त गुण (त्वम्) आप के (संश्रितः) आश्रित हो गए हैं, इसलिए (उपात्त - विविधाश्रय - जातगर्वैः) अनेक जगह आश्रय प्राप्त होने के

कारण जिन्हें गर्व हो गया है, उन (दोषैः) दोषों के द्वारा (स्वप्नान्तरेऽपि) सपने में भी (कदाचित् अपि) कदापि (न ईक्षितः असि) आप नहीं देखे गए हैं, तो (अत्र) इस विषय में (कः विस्मयः) क्या आश्चर्य है? कुछ भी नहीं ॥२७॥

भावाथं— हे मुनीश्वर ! विश्व के सम्पूर्ण सद्गुणों ने आप में आश्रय पाया है, अतएव दोषों को आप में जरा भी स्थान नहीं मिला । फलतः वे अन्य देवताओं के यहाँ आश्रय पाने की इच्छा से पहुंचे । वहाँ यथेष्ट आश्रय पाकर वे घमंडी हो गए, फिर तो स्वप्न में भी कभी आपको लौट कर देखने नहीं आए । इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है ? जिसे अन्यत्र आदर का स्थान मिलेगा, वह भला आश्रय न देने वाले व्यक्ति के पास लौट कर क्यों आएगा ?

टिप्पणी

आचार्य बताना चाहते हैं कि भगवान् में केवल गुण ही गुण हैं । दोषों का लेशमात्र भी अंश नहीं है, और उधर दूसरे संसारी देवों में दोष ही दोष हैं, गुण नाममात्र को भी नहीं हैं । आचार्य की भावोद्घाटन-शैली बड़ी ही मार्मिक है । देखिए, किस व्यंग के साथ अपने इष्टदेव के महत्त्व की स्थापना की है ।

उच्चैरशोकतरु - संश्रितमुन्मयूख--

माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,

बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्व-वर्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ— (उच्चैरशोकतरु - संश्रितम्) ऊँचे अशोक वृक्ष के नीचे स्थित तथा (उन्मयूखम्) जिसकी किरणें ऊपर को फैल रही हैं, ऐसा (भवतः अमलम् रूपम्) आपका उज्ज्वल रूप (स्पष्टोल्लसत्किरणम्) जिसकी किरणें स्पष्ट रूप से शोभायमान हैं और (अस्ततमो-वितानम्) जिसने अन्धकार - समूह को नष्ट कर दिया है, ऐसे (पयोधरपार्श्व - वर्ति) मेघ के निकट विद्यमान (रवेः बिम्बम् इव) सूर्य के बिम्ब की तरह (नितान्तम्) अत्यन्त (आभाति) शोभित होता है ॥२८॥

भावार्थ हे प्रभो ! अशोक वृक्ष के नीचे ऊपर की ओर चमकती हुई किरणों वाला आपका निर्मल रूप, अतीव भव्य मालूम होता है । जैसा कि स्पष्ट रूप से चमकती हुई किरणों वाला एवं अन्धकार - समूह को नष्ट करने वाला सूर्य = मण्डल सघन बादलों के नीचे शोभित होता है ।

टिप्पणी

तीर्थंकर देवों के आठ महाप्रातिहार्यों में से यह पहले अशोक

वृक्ष नामक प्रातिहार्य का सुन्दर वर्णन है। अशोक वृक्ष के नीचे रहे हुए भगवान् के दिव्य शरीर की उपमा, बादलों के नीचे रहे हुए सूर्य से बहुत ही भव्य दी गई है। सूर्य की किरणों से बादल चमकते हैं, तो भगवान् के दिव्य तेज से अशोक वृक्ष के पल्लव भी चमक उठते हैं।

यद्यपि बादल बहुत नीचे हैं, सूर्य बहुत ऊपर है। परन्तु दृष्टि-भ्रम से ऐसा मालूम होता है, कि सूर्य नीचे है और बादल ऊपर हैं। आचार्यजी ने लौकिक कल्पना को लक्ष्य में रख कर ही ऊपर का वर्णन किया है।

सिंहासने मणिमयूख - शिखाविचित्रे,
विभ्राजते तत्र वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्-विलसदंशुलता - वितानं,
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२६॥

अन्वयार्थ—(मणिमयूखशिखाविचित्रे) रत्नों की किरणों के अग्रभाग से चित्र-विचित्र (सिंहासन) सिंहासन पर (तत्र) आपका (कनकावदातम्) सोने की तरह उज्ज्वल (वपुः) शरीर (तुंगोदयाद्रिशिरसि) ऊँचे उदयाचल के शिखर पर (वियद्-विलसदंशुलता-वितानम्) आकाश में जिसकी किरण-रूपी लताओं का समूह शोभायमान है, उस (सहस्ररश्मेः) सूर्य के (बिम्बम् इव) मण्डल की तरह (विभ्राजते) सुशोभित हो रहा है ॥२६॥

भावार्थ— हे भगवन् ! जिस प्रकार ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश में लता के समान दूर तक फैलती प्रकाशमान किरणों से युक्त सूर्य का विम्ब सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुमूल्य मणियों की किरण-प्रभा से विचित्र ऊँचे सिंहासन पर आपका सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीर सुशोभित होता है ।

टिप्पणी

उदयाचल पर उदय होने वाले सूर्य के साथ भगवान् के स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान दिव्य शरीर की उपमा बहुत सुन्दर बन पड़ी है । यह दूसरे प्रातिहार्य का वर्णन है ।

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,

विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।

उद्यच्छशांकशुचि-निर्झर-वारिधार-

मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अव्ययार्थ—(कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) कुन्द के फूल के समान स्वच्छ श्वेत चंचल चामरों के द्वारा जिसकी शोभा सुन्दर है, ऐसा (तव) आपका (कलधौत-कान्तम्) सोने के समान कमनीय (वपुः) शरीर (उद्यच्छ-शांकशुचि-निर्झर-वारिधारम्) जिस पर चन्द्रमा के समान निर्मल झरने के जल की धारा उछल-बह रही है, उस (सुरगिरेः शातकौम्भम् उच्चैस्तटम् इव) मेरुपर्वत के

सोने के बने हुए ऊँचे तट की भांति (विभ्राजते) शोभा यमान होता है ॥३०॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार उदय होते हुए चन्द्रमा के समान निर्मल भरनों की जलधाराओं से सुवर्णगिरि सुमेरु का ऊँचा शिखर शोभित होता है उसी प्रकार देवताओं के द्वारा दोनों ओर दुराये जाने वाले कुन्द - पुष्प के समान श्वेत चँवरों की मनोहर शोभा से युक्त आपका सुवर्ण जैसी कान्ति वाला दिव्य रूप भी अतीव सुन्दर मालूम होता है ।

टिप्पणी

जिस प्रकार सुमेरु के शिखर से दोनों ओर स्वच्छ झरने झरते हैं, उसी प्रकार आपके सुवर्ण - जैसी कान्ति वाले दिव्य शरीर के दोनों ओर दो श्वेत चामर दुरते हैं । कितनी भव्य कल्पना है ! यह तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है ।

छत्र-त्रयं तव विभाति शशांककान्त-

मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर-प्रतापम् ।

मुक्ताफलप्रकरजाल - विवृद्धशोभं,

प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(शशांककान्तम्) चन्द्रमा के समान सुन्दर

(स्थगित-भानुकर-प्रतापम्) सूर्य की किरणों के सन्ताप को रोकने वाले तथा (मुक्ताफलप्रकरजाल - विवृद्धशोभम्) मोतियों के समूह की जाली - झालर से बढ़ती हुई शोभा को धारण करने वाले (तव उच्चैः स्थितम्) आपके ऊपर स्थित (छत्र - त्रयम्) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीनों लोक के (परमेश्वरत्वम्) स्वामित्व को (प्रख्यापयत्) प्रगट करते हुए से (विभाति) प्रतीत होते हैं ॥३१॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके मस्तक पर एक के ऊपर एक रहने वाले तीनों ही छत्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हैं, सूर्य की किरणों के प्रताप को भी अभिभूत कर देने वाले हैं, तथा चारों ओर मोतियों की झालर से अत्यधिक शोभा पा रहे हैं। ये तीन छत्र आपके सम्बन्ध में सूचना दे रहे हैं, कि प्रभु, तीन लोक के परमेश्वर हैं।

टिप्पणी

तीन छत्र, भगवान् के तीन लोक के नाथ होने की सूचना करते हैं। आचार्यश्री की कल्पना-शक्ति बहुत प्रौढ़ हो गई है। यह चौथा प्रातिहार्य है।

गम्भीरताररवपूरित - दिग्विभागस् -

त्रैलोक्यलोकशुभसंगम - भूतिदक्षः ।

सद्धर्मराजजयघोषण - घोषकः सन्,

खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ— (गम्भीरताररवपूरित-दिग्विभागः) गम्भीर और उच्च शब्द से दिशाओं के विभाग को पूर्ण करने वाली (त्रैलोक्यलोकशुभसंगम - भूतिदक्षः) तीन लोक के जीवों को शुभ सम्पत्ति प्राप्त कराने में निपुण - समर्थ और (सद्धर्मराजजयघोषण-घोषकः) सद्धर्म के अधिपति की जय घोषणा करने वाली (दुन्दुभिः) दुन्दुभि (ते) आकाश (यशसः) यश का (प्रवादी सन्) कथन करती हुई (खे) आकाश में (ध्वनति) शब्द कर रही है ॥३२॥

भावार्थ—गम्भीर और तार ध्वनि से दशों-दिशाओं को पूरित कर देने वाली, तीन लोक की जनता को शुभ समागम की विभूति प्रदान करने में कुशल देव-दुन्दुभि, जहाँ आप विराजते हैं, वहाँ आकाश में निरन्तर वजा करती है। यह दुन्दुभि आप जैसे सर्वश्रेष्ठ धर्मराज की जय-घोषणा करती है और संसार में सब ओर आपका यशोनाद गुँजाती है।

टिप्पणी

पौराणिक लोग मृत्यु के अनन्तर दण्ड देने वाले यमराज को भी धर्मराज कहते हैं। परन्तु वह धर्मराज कैसा? वह धर्म की क्या शिक्षा देता है? सच्चे धर्मराज तो भगवान् हैं, जो जनता को धर्म का मार्ग बताते हैं। आचार्यश्री ने पाँचवें

प्रातिहार्य का वर्णन करते हुए देव - दुन्दुभि को जय-घोषणा करने वाली कहा है । दुन्दुभि क्या बजती है, मानो आकाश में धर्मराज भगवान् का जय-जयकार करती है ।

मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात-

सन्तानकादिकुसुमोत्कर - वृष्टिरुद्धा ।

गन्धोदविन्दु-शुभमन्द-मरुत्प्रपाता,

दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ—(गन्धोदविन्दु-शुभ-मन्दमरुत्प्रपाता)

सुगन्धित जल-विन्दुओं और उत्तम मन्द - मन्द बहती हुई हवा के साथ गिरने वाली (उद्धा) श्रेष्ठ और (दिव्य) मनोहर (मन्दारसुन्दर - नमेरु-सुपारिजात-सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पतरुओं के पुष्पसमूह की वृष्टि (ते) आपके (वचसाम्) वचनों की (ततिः वा) पंक्ति की तरह (दिवः पतति) आकाश से गिरती है ॥३३॥

भावार्थ - हे नाथ ! आपके समवसरण में गन्धोदक की वूँदों से पवित्र हुए मन्द - पवन के झोकों से वरसने वाली देव-कृत पुष्प-वर्षा, बड़ी ही सुन्दर मालूम होती है । उसमें मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के मनोहर सुगन्धित पुष्प

निरन्तर भड़ते रहते हैं। पुष्प जब आकाश से वरसते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, मानों आपके वचनों की दिव्य पंक्तियाँ ही वरस रही हैं।

टिप्पणी

भगवान् के समवसरण में देवता अपनी दिव्य-शक्ति से विभिन्न रंगों के सुगन्धित फूलों की वर्षा करते हैं। वह पुष्प-वर्षा ऐसी मालूम होती है, मानो भगवान् के मुख से वचन-रूपी फूल झड़ रहे हैं। कितनी भव्य कल्पना की है आचार्यश्री ने ! यह छठे प्रातिहार्य का वर्णन है।

मन्दार, सुन्दर आदि कल्पवृक्षों की बे जातियाँ हैं, जिनका वर्णन पौराणिक ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ पाया जाता है। ये दैवी कल्पवृक्ष माने जाते हैं।

शुम्भत्प्रभावलय-भूरिविभा विभोस्ते,

लोकत्रय - द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।

प्रोद्यद्दिवाकर - निरन्तरभूरिसंख्या,

दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम्॥३४॥

अन्वयार्थ - (लोकत्रय-द्युतिमताम्) तीनों लोकों के कान्तिमान पदार्थों की (द्युतिम्) कान्ति को भी (आक्षिपन्ती) तिरस्कृत करती हुई (ते विभोः) आप-प्रभु की (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) शुभ्र-भामण्डल की विशाल

प्रभा (दीप्त्या) अपनी दीप्ति से (प्रोद्यद् दिवाकरनिरंतर-भूरिसंख्या) उदय होते हुए अन्तर रहित अनेक सूर्यो जैसी कान्ति से उपलक्षित होकर (अपि) भी (सौम - सौम्याम्) चन्द्रमा की सौम्य—शीतल (निशाम् अपि) रात्रि को भी (जयति) जीत रही है ॥३४॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके प्रकाशमान भामण्डल की ज्योतिर्मयी प्रभा तीन जगत् के द्युतिमान पदार्थों की द्युति को भी तिरस्कृत कर देने वाली है । आपके भामण्डल की प्रभा अपनी दीप्ति से अनेकानेक प्रकाशमान सूर्यो के समान प्रचण्ड होने पर भी अपनी शीतलता के द्वारा पूर्ण-चन्द्र-मण्डल से शोभायमान पूर्णमासी की चन्द्रिका को भी पराजित कर देती है ।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में भामण्डल नामक सातवें प्रातिहार्य का वर्णन है । भामण्डल वह है, जो भगवान् के मस्तक के पास प्रभा का एक गोल मण्डल-सा होता है । वह दिन-रात प्रकाश से जगमगाता रहता है, रात्रि के सघन अन्धकार में भी वह उज्ज्वल प्रकाश देता है । भामण्डल की कान्ति सैकड़ों सूर्यो के समान होने पर भी उष्यता करने वाली नहीं है, प्रत्युत चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी के समान शीतल है ।

स्वर्गापवर्गममार्ग - विमार्गणेष्टः

सद्धर्मतत्त्वकथनैक - पटुस्त्रिलोक्याः ।

दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-

भाषास्वभाव-परिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

अन्वयार्थ— (ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (स्वर्गापवर्गममार्ग - विमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्ष को जाने वाले मार्ग को खोजने में दृष्ट (त्रिलोक्याः) तीन लोक के जीवों को (सद्धर्मतत्त्व - कथनैक-पटुः) सम्यक् धर्म-तत्त्व के कथन करने में अत्यन्त प्रवीण और (विशदार्थ-सर्व-भाषा-स्वभाव-परिणामगुणैः प्रयोज्यः) स्पष्ट अर्थ वाली समस्त भाषाओं में परिवर्तित होने वाले स्वाभाविक गुणों से प्रयुक्त—सहित (भवति) होती है ॥३५॥

भावार्थ—हे दीनबंधो ! आपकी दिव्य - ध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बताने में प्रिय मित्र के समान है, तीन लोक के प्रति सद्धर्म और सद्बस्तु का स्वरूप कहने में अद्वितीय चतुर है, विशद अर्थ की द्योतक है और संसार की सब भाषाओं में परिणत होने के महान् विलक्षण गुण से युक्त है ।

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् की भाषा को दिव्य-ध्वनि कहते हैं । दिव्य - ध्वनि का सबसे विलक्षण चमत्कार यह है— विभिन्न

भाषा-भाषी देशों के रहन वाले मनुष्य अपनी - अपनी भाषा में सब अभिप्राय ग्रहण कर लेते हैं । और तो क्या, पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी भाषा में भगवान् का उपदेश समझ लेते हैं । यह आठवाँ प्रतिहार्य है ।

उन्निद्रहेमनवपंकज - पुञ्जकान्ती,

पर्युल्लसन् - नखमयूखशिखाभिरामौ ।

पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,

पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ— (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र ! (उन्निद्रहेमनव-पंकजपुञ्जकान्ती) खिले हुए सोने के नवीन कमल समूह के समान कान्तिवाले तथा (पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) चारों ओर से शोभायमान नखों की किरणों के अग्रभाग से सुन्दर (तव) आपके (पादौ) दोनों चरण (यत्र) जहाँ (पदानि कदम (धत्तः) रखते हैं, (तत्र) वहाँ (विबुधाः) देव (पद्मानि) कमल (परिकल्पयन्ति) रच देते हैं ॥३६॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! खिले हुए नवीन स्वर्ण कमलों के समान दिव्य कांति वाले, तथा सब ओर से उल्लसित विकीर्ण होने वाली नख - किरणों की प्रभा से अतीव मनोहर लगने वाले आपके पवित्र चरण, जहाँ-जहाँ

कदम रखते हैं, वहाँ-वहाँ भक्त देवता पहले ही स्वर्ण-कमलों की रचना कर देते हैं ।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !

धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।

यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,

तादृक् कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनेश्वरदेव ! (इत्थं) इस प्रकार (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेश के कार्य में (यथा) जैसी (तव) आपकी (विभूतिः) विभूति—दिव्य वैभव प्राप्ति (अभूत) हुई थी, (तथा) वैसी (न परस्य) किसी दूसरे की नहीं हुई थी (प्रहतान्धकारा) अन्धकार को नष्ट करने वाली (यादृक्) जैसी (प्रभा) कान्ति (दिनकृतः भवति) सूर्य की होती है (तादृक्) वैसी (ग्रहगणस्यविकाशिनोऽपि) प्रकाशमान ग्रह गण की भी (कुतः) कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥३७॥

भावार्थ— हे जिनेश्वर देव ! धर्मोपदेश करते समय पूर्वोक्त रूप में जैसी आपकी दिव्य विभूति हुआ करती थी, वैसी दूसरे रागी-द्वेषी देवों की कभी नहीं हुई ।

आपकी और दूसरे देवों की तुलना ही क्या ?

अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाली जैसी प्रचण्ड प्रभा दिन के कर्ता सूर्य में होती है, वैसी प्रभा आकाश में चमकने वाले दूसरे ग्रह - नक्षत्रों में कहाँ होती है ?

टिप्पणी

संसार में देवों की कमी नहीं है। हजारों - लाखों देव जिधर देखिए उधर ही भोले भक्तों के द्वारा पूजा पा रहे हैं, परन्तु उनका देवत्व भगवान् धीतराग-देव के समक्ष कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। आकाश में अनेक तारे चमकते हैं, परन्तु सूर्य के समान अखण्ड प्रकाश का पुञ्ज और कौन है ? कोई भी नहीं। सूर्य की अपनी निराली ही दिव्यता है।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-

मत्तभ्रमद् - भ्रमरनाद - विवृद्धकोपम् ।

ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,

दृष्टवा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥४८॥

अन्वयार्थ- (श्च्योतन्-मदाविल-विलोलकपोलमूल-मत्तभ्रमद् भ्रमरनाद-विवृद्धकोपम्) झरते हुए मदजल से मलिन और चंचल गालों के मूल भाग में मत्त होकर मंडराते हुए भौरों के गुंजार से जिनका कोप बढ़ गया है, ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावत हाथी की तरह (उद्धतम्) उद्दण्ड (आप-

तन्तम्) सामने से आते हुए (इभम्) हाथी को (दृष्ट्वा) देख कर भी (भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्यों को (भयं) भय (नो भवति) नहीं होता ।

भावार्थ—दिन-रात बहने वाले मद से मलिन एवं चंचल कपोल-मूलों पर मँडराने वाले मत्त भोरों के नाद से अत्यन्त क्रुद्ध, इन्द्र के ऐरावत हाथी के समान विशाल एवं मदमत्त हाथी को आक्रमण करते हुए देखकर भी आपके आश्रित भक्तों को कुछ भी भय नहीं होता । आपके आश्रय में भय कहाँ ?

टिप्पणी

३८ से ४७ तक के श्लोकों में कहा है, कि भक्त को अभय होकर रहना चाहिए । उक्त श्लोकों का पाठ करते हुए अन्तर्मन में यह दिव्य विचार करना चाहिए, कि इन भयों में से एक भी भय या संकट मुझे कभी विचलित नहीं कर सकेगा । भगवान् अभय - मूर्ति हैं, तो मैं उनका भक्त क्यों भयभीत रहूँ । प्रभु की कृपा से मुझ में उस लोकोत्तर दिव्य शक्ति का आविर्भाव हो, जिससे कि न मैं किसी से भयभीत बनूँ और न किसी को भयभीत करूँ ।

भिन्नेभ - कुम्भगलदुज्ज्वलशोणितावत—

मुक्ताफल - प्रकर - भूषित - भूमिभागः ।

बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचल - संश्रितं ते ॥३६॥

अन्वयार्थ—भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-मुक्त-फल-प्रकर - भूषित - भूमिभागः) फाड़े हुए हाथी के गण्ड-स्थल से टपकते हुए उज्ज्वल तथा रक्त से सने हुए मोतियों के समूह से जिसने पृथ्वी के प्रदेश को विभूषित कर दिया है, तथा (बद्धक्रमः) जो छलाँग मारने के लिए उद्यत है, ऐसा हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतम्) अपने पैरों के बीच आए हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचल-संश्रितम्) चरण युगल रूप पर्वत का आश्रय लेने वाले पुरुष पर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता ॥३६॥

भावार्थ— जिसने बड़े - बड़े भीमकाय हाथियों के कुम्भ - स्थल—मस्तकों को विदारण कर रक्त से सने हुए उज्ज्वल मोतियों के ढेर से भू - प्रदेश को अलंकृत किया हो, जो चौकड़ी बाँधकर आक्रमण करने के लिए तैयार हो, ऐसा भयंकर सिंह भी आपके अचल चरणों का आश्रय लेने वाले भक्त पर आक्रमण नहीं कर सकता, भले ही वह आपका भक्त सिंह के बिल्कुल निकट पैरों के नीचे ही क्यों न आ गया हो ।

कल्पान्तकाल - पवनोद्धत - वह्निकल्पं,
 दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिगम् ।
 विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
 त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

अव्ययार्थ— (त्वन्नामकीर्तनजलं) आपके नाम का कीर्तन—गुणगान रूपी जल (कल्पान्त काल - पवनोद्धत - वह्निकल्पम्) प्रलयकालीन प्रचण्ड पवन से उद्धत अग्नि के समान (ज्वलितम्) प्रज्वलित (उज्ज्वलम्) धधकती हुई उज्ज्वल (उत्स्फुलिगम्) जिसमें से चिनगारियाँ उछल रही हैं, ऐसी (विश्वं जिघत्सुम् इव) संसार को निगलना चाहती हुई-सी (सम्मुखम् आपतन्तम्) सामने से आती हुई (दावानलम्) वन की आग को (अशेष) पूर्ण रूप से (शमयति) बुझा देता है ॥४०॥

भावार्थ— प्रलयकाल के महात्रायु से क्षुब्ध अग्नि के समान जलता हुआ, आकाश में बहुत दूर - दूर तक चिनगारियाँ फेंकता हुआ और समग्र विश्व को भस्म करने की कामना से मानो द्रुतगति से अग्रसर होता हुआ, महाप्रचण्ड दावानल भी आपके नाम स्मरण-रूपी जलधारा से शीघ्र ही पूर्णतया शान्त हो जाता है ।

रक्तेक्षणं समदकोकिल-कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।

आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंकस्-

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

अव्ययार्थ—(यस्य) जिस (पुंसः) पुरुष के (हृदि) हृदय में (त्वन्नामनागदमनी) आपके नाम-रूपी नागदमनी औषधि मौजूद है, (सः) वह पुरुष (रक्तेक्षणम्) लाल-लाल आँखों वाले (समदकोकिल - कण्ठनीलम्) मद-युक्त कोयल के कण्ठ की तरह काले (क्रोधोद्धतम्) क्रोध क्रोध से प्रचण्ड और (उत्फणम्) ऊपर को फण उठाए हुए (आपतन्तम्) सामने आने वाले (फणिनम्) साँप को (निरस्तशंकः) निःशंक होकर (क्रमयुगेन) दोनों पैरों से (आक्रामति) अक्रान्त कर जाता है ॥४१॥

भावार्थ—जिसकी आँखें लाल हों, जो मस्त कोयल के कण्ठ के समान काला हो, जो क्रोध से भड़क रहा हो, जो फण उठाकर काटने के लिए तैयार हो—ऐसे भयंकर जहरीले साँप को भी अपने पैरों के नीचे दबाकर खड़ा हो सकता है, जिसके हृदय में आपके नाम की नागदमनी जड़ी मौजूद है ।

वल्गत्तुरंग - गज-गर्जित-भीमनाद-

माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।

उद्यद्दिवाकर - मयूखशिखापविद्धं,

त्वत्कीर्तनात् तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

अन्वयार्थ - (त्वत्कीर्तनात्) आपके गुणकीर्तन से (आजौ) युद्ध क्षेत्र में (वल्गत् - तुरंगगज - गर्जित भीमनादम्) उछलते हुए घोड़ों और हाथियों की गर्जना से जिसमें भयंकर आवाज हो रही है, ऐसी (बलवतां भूपतीनां अपि) शक्तिशाली तेजस्वी राजाओं की भी (बलम्) सेना (उद्यद्-दिवाकर-मयूख-शिखापविद्धम्) ऊगते हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से छिन्न-भिन्न हुए (तमः इव) अन्धेरे की तरह (आशु) शीघ्र ही (भिदाम् उपैति) विनष्ट हो जाती है, हार जाती है ॥४२॥

भावार्थ - रणक्षेत्र में बड़े भारी बलवान् शत्रु राजाओं की वह सेना, जिसमें घोड़े हिनहिनाते हों, हाथी गरजते हों, बहुत भीषण कोलाहल मच रहा हो, आपके नाम से सहसा उसी प्रकार परास्त हो जाती है, जिस प्रकार प्रभातकालीन उदय होते हुए सूर्य की किरणों से रात्रि का सघन अन्धकार छिन्न - भिन्न हो जाता है ।

कुन्ताग्रभिन्नगज - शोणितवारिवाह-

वेगावतार - तरणातुरयोध - भीमे ।

युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षास्-

त्वत्पादपंकज-वनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अन्वयार्थ— (त्वत्पाद - पंकज वनाश्रयिणः) आपके

चरण कमल रूपी वन का आश्रय लेने वाले पुरुष (कुन्ताग्र-भिन्नगज-शोणितवारिवाह-वेगावतार-तरणातुरयोधभीमे) भालों की नोक से फाड़े हुए हाथियों के रक्त रूपी जल-प्रवाह को वेग से उतरने और तैरने में व्यग्र योद्धाओं से भयंकर (युद्धे) युद्ध में (विजितदुर्जयजेयपक्षाः) दुर्जय शत्रुओं के पक्ष को जिन्होंने जीत लिया, ऐसे दुर्दान्त हो कर (जयम्) विजय (लभन्ते) पाते हैं ॥४३॥

भावार्थ हे जिनेन्द्र ! उस भयंकर युद्ध में, जिसमें बड़े नामी - गिरामी वीर योद्धा भी भालों की नोक से आहत हाथियों के वेगवान रक्त-प्रवाह को तैरने में व्याकुल हो रहे हों, आपके चरण - कमल - रूपी वन का आश्रय लेने वाले भक्त बहुत शीघ्र ही दुर्जय शत्रुओं को जीतकर विजय प्राप्त करते हैं ।

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-

पाठीन-पीठ-भयदोलवणवाडवाग्नी ।

रंगत्तरंग - शिखरस्थित - यानपात्रास्-

त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

अन्वयार्थ - (क्षुभितभीषणनक्रचक्र - पाठीन - पीठ-भयदोल्वणवाडवाग्नी) जिसमें क्षुब्ध हुए भयंकर मगर - मच्छों के झुण्ड हैं, मछलियों के द्वारा भय - उत्पादक है तथा विकराल वडवानल है, ऐसे (अम्भोनिधौ) समुद्र में (रंगत्-तरंग-शिखरस्थितयानपात्राः) चंचल लहरों के अग्रभाग पर जिनके जलयान स्थित हैं, ऐसे लोग (भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरण से (त्रासं) डर (विहाय) छोड़कर (व्रजन्ति) चले जाते हैं — यात्रा करते हैं ॥४४॥

भावार्थ - हे नाथ ! भीषण मगरमच्छों, पाठीन - पीठ नामक जलचर प्राणियों और भयंकर जलते हुए वडवानल के कारण क्षुब्ध महासागर की उत्ताल तरल तरंगों की चोटियों पर जिनकी नैया डगमगा रही हो, इस प्रकार काल के गाल में पहुंचे हुए समुद्र - यात्री भी आपके नाम स्मरण से सकुशल समुद्र पार कर जाते हैं ।

उद्भूतभीषणजलोदर - भारभुग्नाः,

शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।

त्वत्पाद - पंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा,

मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

अन्वयार्थ—(उद्भूतभीषणजलोदर-भारभुग्नाः)
उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर रोग के भार से झुके हुए
(शोच्यां दशाम्) शोचनीय अवस्था को (उपगताः) पहुँचे
हुए और (च्युत-जीविताशाः) जिन्होंने जीने की आशा
ही छोड़ दी हो, (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पाद - पंकज-रजो-
ऽमृतदिग्ध-देहाः) आपके चरण कमलो की रज - रूपी
अमृत से लिप्त शरीर वाले होकर (मकरध्वज तुल्यरूपाः)
कामदेव के तुल्य रूप वाले (भवन्ति) हो जाते हैं ॥४५॥

भावार्थ—जो भयंकर जलोदर रोग के भार से
जर्जर हैं, फलतः जीवन की आशा तक छोड़ चुके हैं,
मरणासन्न असाध्य रोगी भी, यदि आपके चरण-कमलों
की रज-रूपी अमृत को शरीर पर लगा लें, तो तत्क्षण
ही कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर रूपा को प्राप्त कर
सकते हैं।

आपादकण्ठमुरुश्रृं खलवेष्टितांगाः ,

गाढं बृहन्निगडकोटि - निघृष्टजंघाः ।

त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,

सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

अन्वयार्थ—(आपादकण्ठम्) पैर से लेकर कण्ठ तक
(उरुश्रृं खलवेष्टितांगाः) बड़ी - बड़ी सांकलों से जिनका

शरीर जकड़ा हुआ है (गाढं बृहन्निगडकोटि-निघृष्टजंघाः) बड़ी - बड़ी बेड़ियों के अग्रभाग से जिनकी जांघें अन्यन्त रूप से घिस गई हैं, ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (अनिशम्) निरन्तर (त्वन्नाम - मंत्रम्) आपके नाम - रूपी मंत्र को (स्मरन्तः) स्मरण करते हुए (सद्यः) शीघ्र ही (स्वयम्) अपने आप (विगतबन्धभयाः) बन्धन के भय से रहित (भवन्ति) हो जाते हैं । ॥४६॥

भावार्थ—जो पैर से लेकर कण्ठ तक मजबूत साँकलों से जकड़े हुए हैं, जिनकी जंघाएँ मोटी - मोटी बेड़ियों की कोर से बुरी तरह छिल गई हैं, इस प्रकार के आजन्म कैदी भी जब आपके नाम-रूपी मंत्र का दिन-रात स्मरण करते हैं, तो शीघ्र ही अपने आप बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं ।

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानलाहि-

संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम् ।

तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,

यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (तावकम्) आपके (इमम्) इस (स्तवम्) स्तोत्र को (अधीते) पढ़ता है (तस्य) उसका (मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज-

दवानलाहि संग्राम-वारिधि महोदर-बन्धनोत्थम्) मत-
वाले हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर और
बन्धन आदि से उत्पन्न हुआ (भयम्) डर (भियाइव)
मानो भय से डर कर ही (आशु) शीघ्र (नाशम् -
उपयाति) नष्ट हो जाता है, भाग जाता है ॥४७॥

भावार्थ - जो बुद्धिमान मनुष्य आपकी स्तुति करने
वाले इस स्तोत्र का भक्तिपूर्वक पाठ करता है, उसका
मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र,
जलोदर और कारागार—इन आठ कारणों से उत्पन्न होने
वाला भय, स्वयं ही भयभीत होकर शीघ्र ही नाश को
प्राप्त हो जाता है ।

स्तोत्र - स्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,

भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।

धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,

तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

अर्थ— (जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्र देव ! (इह) इस
संसार में (यः जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्-
त्या) भक्ति पूर्वक (गुणैः) प्रसाद - माधुर्य - ओज आदि
गुणों से—माला के पक्ष में डोरों से (निबद्धाम्) गूथी

हुई—रची हुई (रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्) मनोहर अक्षर रूपी विचित्र फूल वाली, माला पक्ष में सुन्दर रंगों वाले कई तरह के फूलों सहित (तव) आपकी (स्तोत्रस्रजम्) स्तुति रूपी माला को (अजस्रम्) निरन्तर (कण्ठगताम् धत्ते) कण्ठस्थ कर लेता है—माला पक्ष में— गले में धारण कर लेता है (तम्) उस (मानतुंगम्) सम्मान से उन्नत पुरुष अथवा स्तोत्र-रचयिता आचार्य मानतुंग को (लक्ष्मीः) स्वर्ग-मोक्ष आदि रूची लक्ष्मी—विभूति (अवशा) विवश होकर अधीनता को (समुपैति) प्राप्त हो जाती है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मैंने भक्ति-भाव से यह आपकी स्तोत्र रूप माला तैयार की है, जो मनोहर वर्ण - रूपी नाना प्रकार के फूलों से युक्त है, जो आपके उत्तम गुणों से गूथी गई है । अस्तु, जो भक्त-जन इसे अपने कंठ में सतत धारण करता है, वह सम्मान के ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँचता है और उसके चरणों में लक्ष्मी स्वयं विवश हो कर दासी के रूप में उपस्थित हो जाती है ।



हिन्दी भक्तामर-स्तोत्र

दोहा

आदि पुरुष आदीश जिन, आदि सुविधि करतार ।
धरमधुरंधर परम गुरु, नमो आदि अवतार ॥

चौपाई

: १ :

सुरनतमुकुटरतन छवि करें, अन्तर पापतिमिर सब हर ।
जिनपद वंदों मनवचकाय, भवजलपतित-उधारन सहाय ॥

: २ :

श्रुतिपारग इन्द्रादिक देव, जाकी श्रुति कीनी कर सेव ।
शब्द मनोहर अरथ विशाल, तिस प्रभुकी वरनों गुनमाल ॥

: ३ :

विवुधबंधपद मैं मतिहीन, होय निलज श्रुति मनसा-कीन ।
जल प्रतिविव बुद्ध को गहै, शशिमंडल बालक ही चहै ॥

: ४ :

गुणसमुद्र तुम गुन अविकार, कहत न सुरगुरु पावै पार ।
प्रलयपवन उद्धतजलजन्तु, जलधि तिरै को भुज बलवंतु ॥

: ५ :

सो मैं शक्तिहीन थुति करूँ, भक्तिभाववश कुछ नहि डरूँ ।
ज्यों मृग निज सुत पालन हेतु, मृगपति सन्मुख जाय अचेत ॥

: ६ :

मैं शठ सुधी-हसन को धाम, मुझ तब भक्ति बुलावै राम ।
ज्यों पिक अंव-कली परभाव, मधुरितु मधुर करे आराव ॥

: ७ :

तुम जस जंपत जिन छिनमाहि, जनम-जनम के पाप नसाहि ।
ज्यों रवि उदय फटे ततकाल, अलिवत नील निशातमजाल ॥

: ८ :

तुमप्रभाव ते करहै विचार, होसी यह थुति जनमन-हार ।
ज्यों जल कमलपत्र पै परै, मुक्ताफल की दुति विस्तरै ॥

: ९ :

तुमगुणमहिमा हतदुखदोष, सो तो दूर रहो सुखपोष ।
पापविनाशक है तुम नाम, कमल-विकाशी ज्यों-रविधाम ॥

: १० :

नहिँ अचँभ जो होहिँ तुरन्त, तुमसे तुम गुण बरनत संत ।
जो अधीन को आप समान, करै न सो निंदित धनवान ॥

: ११ :

इकटक जन तुमको अवलोय, और विषें रति करै न सोय ।
को करि खीरजलधि जलपान, खारनीर पीवै मतिमान ॥

: १२ :

प्रभु तुम वीतराग-गुन लीन, जिन परमाणु देह तुम कीन ।
हैं इतने ही ते परमान, यातें तुम - सम रूप न आन ॥

: १३ :

कहाँ तुम मुख अनुपम अविकार, सुरनरनाग नयनमनहार ।
कहाँ चन्द्रमण्डल सकलंक, दिन में ढाकपत्र - सम रंक ॥

: १४ :

पूरनचन्द्र जोति छविबंत, तुम गुन तीन जगत लंघंत ।
एकनाथ त्रिभुवन-आधार, तिन विचरत को सके निवार ॥

: १५ :

जो सुरतियविभ्रम आरम्भ, मन न डिग्यो तुमतौ न अवंभ ।
अचल चलावै प्रलय समीर, मेरुशिखर डगमगे न धीर ॥

: १६ :

धूमरहित वाती गतनेह, परकाशै त्रिभुवन घर येह ।
वातगम्य नाहीं परचंड, अपर दीप तुम जलो अखण्ड ॥

: १७ :

छिपहु न लुपहु राहु की छांहि, जग प्रकाशक हो छिनमांहि ।
घन-अनवर्त्त दाह-विनिवार, रवि ते अधिक धरौ गुनसार ॥

: १८ :

सदा उदित विदलित-तममोह, विघटित मेघ-राहु-अवरोह ।
तुम मुखकमल अपूरव चन्द, जगतविकाशी जोति अमंद ॥

: १९ :

निशिदिन शशिरविको नहीं काम, तुम मुखचन्द हरैतमधामा
जो स्वभावतै उपजै नाज, सजल मेघतै कौनहु काज ॥

: २० :

जो सुबोध सोहै तुममाहि, हरि-हर आदिक में सो नाहि ।
जो दुति महारतन में होय, काचखंड पावै नहि सोय ॥

नाराच छंद

: २१ :

सराग देव देख मैं भला विशेष मानिया,
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया ।
कछू न तोहि देखके जहाँ तुही विसेखिया,
मनोग चित्तचोर और भूल हू न देखिया ॥

: २२ :

अनेक पुत्रवंतिनी नितंबिनी सपूत हैं,
न तो समान पुत्र और माततै प्रसूत हैं ॥
दिशा धरंत तारिका अनेक कोटि को गिनै,
दिनेश तेजवंत एक पूर्व ही दिशा जनै ॥

: २३ :

पुरान हो, पुमान हो, पुनीत पुण्यवान हो,
कहैं मुनीश अन्धकार-नाश को सुभान हो ।

महंत तोहि जानिके न होय वश्य काल के,
न और मोहि मोखपंथ देव तीहि टाल के ॥

: २४ :

अनन्त नित्य चित्तके अगम्य रम्य आदि हो,
असंख्य सर्वव्यापि विष्णु-ब्रह्म हो अनादि हो ।
महेश कामकेतु जोग - ईस जोग ज्ञान हो,
अनेक एक ज्ञान रूप शुद्ध संत मान हो ॥

: २५ :

तुही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धि के प्रमान तैं,
तुही जिनेश शंकरो जगत् - त्रयै विधान तैं ।
तुही विधाता है सही सुमोख-पंथ धार तैं,
नरोत्तमो तुही प्रसिद्ध अर्थ के विचार तैं ॥

: २६ :

नमो करूँ जिनेश तोहि आपदा निवार हो,
नमो करूँ सुभूरि भूमिलोक के सिंगार हो ।
नमो करूँ भवाब्धिनीर-राशि शोषहेतु हो,
नमो करूँ महेश तोहि मोक्ष-पंथ देतु हो ॥

चौपाई

: २७ :

तुम जिन पूरन गुनगनभरे, दोष गरव करि तुम परिहरे ।
और देवगन आश्रय पाय, सुपन न देखें तुम फिर आय ॥

: २८ :

तरु अशोकतर किरन उदार, तुम तन शोभित है अविकार ।
मेघ-निकट ज्यों तेज फुरंत, दिनकर दिपै तिमिर-निहनंत ॥

: २९ :

सिंहासन मनिकिरणविचित्र, ता-पर कंचन बरन पवित्र ।
तुमतनुशोभित किरन विथार, ज्यों उदयाचल रवि तमहार ॥

: ३० :

कुंदपुहुप-सित चमर ढरंत, कनक वरन तुम तनु शोभंत ।
ज्यों सुमेरुतट निर्मल काँति, भरना भरे नीर उमगाँति ॥

: ३१ :

ऊँचे रहै सूर्य - दुति लोप, तीन छत्र तुम दिपै अगोप ।
तीन लोक की प्रभुता कहै, मोती भालर-सों छवि लहै ॥

: ३२ :

दुँदुभि शब्द गहर गंभीर, चहुं दिश होय तुम्हारे धीर ।
त्रिभुवन जन शिवसंगम करें, मानो जय-जय रव उचरै ॥

: ३३ :

मंद पवन गन्धोदक इष्ट, विविध कल्पतरु पुहुपसुवृष्ट ।
देव करै विकसित दल सार, मानो द्विजपंकति अवतार ॥

: ३४ :

तुमतन भामण्डल जिनचन्द, सब दुतिवंत करत है मन्द ।
कोटि संख रवितेज छिपाय, शशि निर्मलनिशि करे अछाय ॥

: ३५ :

गर्ग-मोक्ष - मारम संकेत, परम धरम उपदेशन हेत ।
व्यवचन तुम खिरें अगाध, सब भाषागर्भित हितसाध ॥

दोहा

: ३६ :

विकसितसुबरनकमलदुति, नखदुति मिल चमकाहि ।
तुम पद पदवी जहै धरै, तहँ सुर कमल रचाहि ॥

: ३७ :

ऐसी महिमा तुम विषै, और धरै नहि कौय ।
सूरज में जो जोति है, नहि तारागन होय ॥

छप्पय

: ३८ :

मद अवलिप्त कपोलमूल, अलिकुल भंकारै ।
तिन सुन शब्द प्रचंड क्रोध, उद्धत अति धारै ॥
कालवरन विकराल, कालवत सनमुख आवै ।
परावत - सो प्रबल, सकल जन भय उपजावै ॥
ख गयंद न भय करै, तुम पद महिमा लीन ।
नपतिरहित सम्पतिसहित, बरतैं भक्त अधीन ॥

: ३६ :

अति मदमत्त गयंद कुम्भथल नखन विदारै ।
 मोती - रक्त समेत, डारि भूतल सिंगारै ॥
 बाँकी दाढ़ विशाल, वदन में रसना लोले ।
 भीम भयानक - रूप देखि जन थरहर डोले ॥
 ऐसे मृगपति पगतलें, जो नर आओ होय ।
 शरन गहें तुम चरन की, बाधा करै न सोय ॥

: ४० :

प्रलय पवन कर उठी आग जो तास पटंतर ।
 बमै फुलिंग शिखा उत्तंग परजलें निरन्तर ॥
 जगत समस्त निगलल, भस्म करहेगी मानो ।
 तड़तड़ाट दव - अनल जोर चहुँदिशा उठानो ॥
 सो इक छिन में उपशमें, नाम - नीर तुम लेत ।
 होय सरोवर परिनमें, विकसित कमल समेत ॥

: ४१ :

कोकिल - कंठ समान श्यामतन क्रोध जलता ।
 रक्त - नयन फुंकार मार विषकन उगलता ॥
 फन को ऊँचा करै, वेग ही सन्मुख धाया ।
 तव जन होय निशंक, देख फनपति को आया ॥
 जो चापै निज पांवतै, व्यापै विष न लगाय ।
 नागदमनि तुम नाम की, है जिनके आधार ॥

: ४२ :

जिस रन माहिं भयानक, शब्द कर रहे तुरंगम ।
 घनसम गज गरजाहिं, मत्त मानों गिरि जंगम ॥
 अति कोलाहलमाहिं, बात जहँ नाहिं सुनीजै ।
 राजन को परचंड, देख बल धीरज छीजै ॥
 नाथ तिहारे नाम तैं, सो छिन माहिं पलाय ।
 ज्यों दिनकर परकाश तैं, अन्धकार विनशाय ॥

: ४३ :

मारे जहाँ गयंद, कुम्भ हथियार विदारे ।
 उमगे रुधिर - प्रवाह वेग जल से विस्तारे ॥
 हो तिरन असमर्थ, महाजोधा बलपूरे ।
 तिस रन में जिन तोय, भक्त जे हैं नर - सूरे ।
 दुर्जय अरिकुल जीत के, जय पावैं निकलंक ।
 तुम पदपंकज मन बसे, ते नर सदा निशंक ॥

: ४४ :

नक्र - चक्र मगरादि, मच्छ - करि भय उपजावै ।
 जामें बड़वा - अग्नि, दाहतै नीर जलावै ॥
 पार न पावै जासु, थाह नहिं लहिये ।
 गरजै अति गम्भीर, लहर की गिनति न ताकी ॥
 सुखसों तिरै समुद्र को, जे तुमगुण सुमिराहिं ।
 लोल कलोलन के शिखर, पार यान लेजाहिं ॥

: ४५ :

महाजलोदर - रोग भार - पीड़ित नर जे हैं ।
 वात - पित्त - कफ-कुष्ठ, आदि जे रोग गहे हैं ॥
 सोचत रहैं उदास, नाहि जीवन की आशा ।
 अति घिनावनी देह धरें, दुर्गन्ध निवासा ॥
 तुम पद - पंकज-धूल को, जो लावें निज अंग ।
 ते निरोग शरीर लहि, छिन में होहि अनंग ॥

: ४६ :

पाँव कंठतै जकरि, बांध साँकल अतिभारी ।
 गाढ़ी बेड़ी पैर मांहि, जिन जाँघ विदारी ॥
 भूख - प्यास चिंता शरीर, दुःख से बिललाने ।
 शरन नाहि जिन कोय, भूप के बंदोखाने ॥
 तुम सुमरत स्वयमेव ही, बन्धन सब खुल जाहि ।
 छिनमे ते सम्पति लहैं, चिन्ता भय विनसाहि ॥

: ४७ :

महामत्त गजराज और मृगराज दवानल ।
 फनपति रन परचंड, नीरनिधि रोग महावल ॥
 बन्धन ये भय आठ, डरप कर मानो नाशै ।
 तुम सुमरत छिनमाहि, अभय थानक परकाशै ॥
 इस अपार संसार में शरन नाहि प्रभु कोय ।
 यातैं तुम पद भक्त को, भक्ति सहाई होय ॥

: ४८ :

यह गुण-माल विशाल, नाथ तुम गुनन संवारी ।
 विविध वर्णमय पुहुप गूंथि मैं भक्ति विथारी ॥
 जे नर पहरे कंठ, भावना मन में भावें ।
 मानतुंग ते निजाधीन, शिव - लछमी पावें ॥
 भाषा भक्तामर कियो, 'हेमराज' हितहेत ।
 जे नर पढै सुभाव सौं, ते पावें शिव - खेत ॥



अमर अभिलाषा

विश्व - समन्वय अनेकान्त - पथ,
 सर्वोदय का प्रति - पल गान ।
 मैत्री - करुण सब जीवों पर,
 जैन - धर्म जग - ज्योति महान ॥

उपाध्याय अमरमुनि

वृषभ-जिन-स्तोत्र

आचार्य समन्तभद्र

स्वयम्भुवा भूत - हितेन भूतले,
समञ्जस - ज्ञान - विभूति - चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः,
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ १ ॥

—जो अन्य किसी सहायक के बिना परमात्मपद पाने वाले स्वयंभू थे, जो प्राणिमात्र का हित करने वाले थे, सम्यक्-ज्ञान की विभूति स्वरूप सर्वज्ञतारूपी अद्वितीय ज्ञाननेत्र के धारक थे, अपने एक-से-एक समुज्ज्वल गुणों की ज्योति-किरणों से अज्ञान अन्धकार को दूर करते हुए भूमण्डल पर ऐने शोभायमान थे, जैसे अपनी प्रकाशमान शीतल किरण से रात्रि के अन्धकार को दूर करता हुआ पूर्णचन्द्र शोभित होता है ।

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्ध - तत्त्वः पुनरद्भुतोदयो,
समत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ २ ॥

— जिन्होंने वर्तमान कालचक्र की आदि में प्रजापति ब्रह्मा के रूप में तत्कालीन प्रजा की दुःख स्थिति को जान कर, जीने की कामनावाले मरणोन्मुख प्रजाजनों को सर्वप्रथम जीवनोपयोगी कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया, तदनन्तर तत्त्वदर्शी प्रभु अद्भुत आत्म-विकास को प्राप्त कर सभी प्रकार के ममत्व - भाव से विरक्त हो गए, तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो गए ।

विहाय यः सागर-वारि-वाससं,
वधूमिवेमां वसुधा - वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् ,
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

— जो इक्ष्वाकुकुल के आदि पुरुष थे, मुमुक्षु थे, आत्मवान् अर्थात् इन्द्रियों के विजेता समर्थ प्रभु थे । वधू के समान सुन्दर सागरवसना वसुधा वधू को अर्थात् समुद्र-पर्यन्त भूमण्डल के विशाल राज्य को त्यागकर, जिन्होंने मुनि-दीक्षा धारण की । जो उग्र परीषर्ही को सहन करने वाले सहिष्णु थे, फलतः जो सदा अच्युत रहे, साधना-पथ से कभी भी चलायमान नहीं हुए ।

स्वदोष - मूलं स्व - समाधितेजसा,
निनाय यो निर्दय - भस्मसात्-क्रियाम् ।

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा,
बभूव च ब्रह्म - पदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

—जिन्होंने अपने दोषों के मूल कारण राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि को अपने प्रचण्ड समाधितेज से, परम शुक्ल-ध्यानाग्नि से, दृढ़ता के साथ पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया। तदनन्तर जिन्होंने तत्त्व-जिज्ञासु जनता को जीवाजीव आदि तत्त्वों का सम्यक् - बोध दिया। और अन्त में जो ब्रह्म-पदरूपी अविनाशी अमृत - तत्त्व के ईश्वर हुए, स्वामी बने।

स विश्व - चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां,
समग्र - विद्यात्म - वपुर् निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो,
जिनोऽजित-क्षुल्लक-वादिशासनः ॥५॥

—इस प्रकार जो समग्र कर्मशत्रुओं को जीतकर जिन हुए। जो विश्व के अनन्त ज्ञानचक्षु और महान् श्रेष्ठ-जनों के द्वारा पूजित हैं। जिनका शासन एकान्तवादी क्षुल्लकवादियों के द्वारा सदैव अजेय है, जो सम्पूर्ण विद्याओं के आत्म - रूप हैं, अर्थात् सर्वज्ञ - सर्वदर्शी हैं, वे नाभिनन्दन निरंजन, निर्विकार, भगवान् ऋषभदेव हमारे अन्तःकरण को पवित्र करें।

ऋषभदेव-स्तोत्र

१ १ ।

आदिजिनं वन्दे गुण - सदनं ,
सदनन्तामल — बोधं रे ।
बोधकता - गुणविस्तृत कीर्ति ,
कीर्तित - पथमविरोधं रे ॥

: २ :

रोधरहित — विस्फुरदुपयोगं ,
योगं दधतमभंगं रे ।
भंगं नय - ब्रज - पेशलवाचं ,
वाचंयम - मुख - संगं रे ॥

: ३ :

संगतपद - शुचिवचनतरंगं ,
रंगं जगति ददानं रे ।
दान - सुरद्रुम - मंजुल - हृदयं ,
हृदयंगम - गुण - भानं रे ॥

: ४ :

भानन्दित - सुर - नर - पुत्रांगं ,
 नागर - मानस - हंसं रे ।
 हंसगतिं पञ्चम - गतिवासं ,
 वासव - विहिताशंसं रे ॥

: ५ :

शंसन्तं नयवचनमनव्रमं ,
 नव - मंगल - दातारं रे ।
 तारस्वरमघघन - पवमानं ,
 मान - सुभट - जेतारं रे ॥

: ६ :

इत्थं स्तुतः प्रथम - तीर्थपतिः प्रमोदात् ,
 श्रीमद् - यशोविजय - वाचकपुंगवेन ।
 श्री पुण्डरीक - गिरिराज - विराजमानो ,
 मानोन्मुखानि वितनोतु सतां सुखानि ॥



श्री ऋषभ जिनेश्वर

आधा नर था, आधा पशु था,
एक तरह से उस युग का जन ।
तन का बली दैत्य - सा ऊँचा,
किन्तु नहीं था कुछ विकसित मन ॥१॥

नभ - तल से तू उतरा, आया—
धरती पर संदेश लिये नव ।
तन के मानव को तूने ही,
किया उच्चतर मन का मानव ॥२॥

मात्र भोग में लिप्त हाथ थे,
कर्म - योग में जुझ गये अब ।
उतरा स्वर्ग धरा पर सुन्दर,
लगे विहँसने नर - नारी सब ॥३॥

धों को आँखें दी तू ने,
नई सृष्टि का हुआ समुद्भव ।
भौतिक - आध्यात्मिक वैभव पा,
मानव हुआ यथावत मानव ॥४॥

आदि देव, जिन, मुनि, राजा तू ,
 तेरा यश सुर - नर - मुनि गाते ।
 लाखों — लाखों वर्ष हुए, हम—
 अब भी तव पथ चलते जाते ॥५॥

महक रहे तव स्मृति - सौरभ से ,
 देवाऽसुर मानव के अन्तर ।
 गूँज रहा जय - घोष चतुर्दिक ,
 ऋषभ-जिनेश्वर, ऋषभ जिनेश्वर ॥६॥



ज्योति-गुरु

ऋषभ जिनवर जगहितकर,
 आदियुग के ज्योति-गुरु हैं ।
 देह की, चैतन्य की सब ,
 कामना कल्प - तरु हैं ॥

*

तम मिटा, नव ज्योति फैली ,
 प्रभु की कृपा से जग जगा ।
 नरक बनते अवनि-तल पर ,
 सुख - स्वर्ग का मेला लगा ॥

— उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञानपीठ के प्रकाशन

१. भक्तामर - स्तोत्र	२-००
२. कल्याण मन्दिर	१-५०
३. महावीराष्टक	०-५०
४. वीर-स्तुति	१-२५
५. मंगलवाणी	७-००
६. मंगल-पाठ	०-५०
७. आलोचना-पाठ	१-००



श्री सन्मति ज्ञानपीठ

— लोहाखंडी, आगरा —

शाखा : वीरायतन

राजगृह-८०३११६

(नालन्दा-विहार)